RNI No. : RAJHIN/2012//50791
ISSN : 2278-6392

शिक्षा की बुनियाद

हिंदी त्रैमासिक | वर्ष : 2 | अंक : 6 | 11 अक्टूबर, 2013 | उदयपुर | ₹ 200(वार्षिक)

विद्या भवन सोसायटी

Azim Premji University

शिक्षा की बुनियाद

इस अंक में...

1 चिट्ठी–पत्री

3 कहां गए हमारे शहरों के सार्वजनिक स्थल
अनुराग बेहार

4 बाल साहित्य और लोक भाषाएं
नवीन डिमरी

7 बुनियादी तालीम में मेरा सफर
दयालचंद्र सोनी

14 थॉमस बैबिंगटन मैकॉले
अमन मदान

19 अंग्रेजी से फायदा कम, नुकसान ज्यादा
वेद प्रताप वैदिक

21 स्कूल की चार्टगाथा
कालू राम शर्मा

25 फील्ड नोट्स
कमलेश जोशी

30 वास्तविक विद्यालयी अनुभव
संतोष उपाध्याय

34 प्राथमिक शाला की बुनियादी सच्चाइयां
सरन काला

37 जीवन की शिक्षा का दर्शन कराती है – नई तालीम
सिद्धार्थ कुमार जैन

40 जीवन में गणित
स्मृति कुलश्रेष्ठ

43 जीवन के लिए जीवन से गुजरना
मॉर्जरी सॉइक्स

आवरण छायाचित्र
राजेश उत्साही

परामर्श–प्रबंधन : हृदय कांत दीवान
एस. गिरिधर
रामगोपाल वल्लत

संपादक : भाग चंद्र कुमावत

संपादक मण्डल : गुरबचन सिंह
के.आर. शर्मा
कमलेश जोशी
गिरीश शर्मा
रजनी द्विवेदी

चित्रांकन : प्रशांत सोनी

कवर एवं ले–आउट : इसरार अहमद
मो. इकराम

टाइपिंग सहयोग : शाकिर अहमद

वितरण : निशांत कुमावत
✆ 09950912525

संपादकीय पता

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र
विद्या भवन सोसायटी परिसर, फतेहपुरा, मोहन सिंह मेहता मार्ग
उदयपुर (राज.) 313 004
फोन : (0294) 2451497
E-mail : vbs.skb@gmail.com

विद्या भवन सोसायटी और अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी का संयुक्त प्रकाशन

चिट्ठी–पत्री

शिक्षा व्यवस्था परिवर्तन का माध्यम हो

शिक्षा से जुड़े व्यक्तियों के बीच विमर्श को बढ़ावा देने के लिए ''शिक्षा की बुनियाद'' के निरंतर प्रकाशन के लिए बधाई। पत्रिका के अंक 5 (11 जुलाई 2013) में संपादकीय के पेरा दो में पहली पंक्ति में लिखा गया है कि ''....समाज की तासीर के अनुकूल ही शिक्षा का ताना–बाना बुना जाना चाहिए।'' यदि यह सही है, तो आज की शिक्षा व्यवस्था में निस्संदेह वैश्वीकरण की नव उदारवादी नीतियों के साथ ही देश की शोषणकारी सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक व्यवस्था की तासीर के अनुरूप ही वर्तमान शिक्षा को विकसित किया जा रहा है। तो फिर इसमें विमर्श की क्या जरूरत रह जाती है। मुझे लगता है कि संपादक साथियों का, इस पंक्ति के गहरे अर्थ की तरफ ध्यान नहीं गया है।

पत्रिका के इस अंक में स्वर्गीय दयालचंद्र सोनी के आलेख 'बुनियादी तालीम में मेरा सफर' की शुरुआत बेहतर है, परंतु सवाल उनके अनुभवों व सादगीपूर्ण जीवन से प्रेरणा लेने का है। मैंने अनेक बार दयालजी से शिक्षा के संदर्भ में विचार–विमर्श किया। हम दोनों विरोधी विचारधारा के होने के बावजूद एक–दूसरे का सम्मान करते थे, जिसकी वजह हमारी सोच व व्यवहार (कथनी और करनी) का आपस में जुड़ा होना था। हम यह मानते रहे कि शिक्षा स्थानीयता के साथ ही श्रम से जुड़ी हो, उत्पादन से जुड़ी हो तथा वह परिवर्तन का माध्यम हो। इसी तरह 'शिक्षण में कैसे आए वैज्ञानिक चिंतन' पर कमल महेन्द्रू के व्याख्यान का संक्षिप्त विवरण सामयिक है।

अनुराग बेहार का संक्षिप्त लेख 'निजी शिक्षा के मायने' की अंतिम पंक्तियों पर 'अगर हमें एक सशक्त देश बनाना है, जहां समानता, लोकतांत्रिक न्याय जैसे मूल्य हों, तो हमें यहां सार्वजनिक व्यवस्था को बेहतर बनाना होगा।' इस पीड़ा को देखते हुए पत्रिका से जुड़े शिक्षक साथियों को कक्षा–कक्ष तथा दस से पांच तक के कार्य समय के बाहर भी शैक्षिक–सामाजिक गतिविधियों में सम्मिलित होना होगा। यदि हम इस तरह की गतिविधियों के अनुभवों को भी पत्रिका के लिए जुटा सकें, तो पाठकों को विमर्श में भागीदारी के अधिक अवसर मिलेंगे। यहां यह सोचना भी प्रासंगिक है कि जब तक समाज में ऊंच–नीच और श्रेणियों के अनुसार विद्यालय रहेंगे उसी तरह की ऊंच–नीच और भेदभाव बना रहेगा। इसके उलट भी सही है कि– समाज में जब तक परतदार और भिन्न–भिन्न स्तर व ऊंच–नीच वाले विद्यालय रहेंगे तब तक असमानता बनी रहेगी। अतः समान शिक्षा के प्रयास अपरिहार्य हैं।

''कैसे करें लेखन कला का विकास'' लेख में जिनेंद्र कुमार ने अभिव्यक्ति लेखन कला के महत्त्व को

प्रतिपादित करने की कोशिश की है, जिसकी हर प्रकार की अभिव्यक्ति का गला घोंटने वाले इस युग में अत्यधिक प्रासंगिकता है। विशेषकर आदिवासी, दलित और गरीब बच्चों के संदर्भ में अभिव्यक्ति की हर कला को विकसित करने के जोरदार प्रयास आवश्यक हैं। शहनाज की डायरी सहित शेष लेख पठनीय हैं। आशा है कि संपादक साथी यह अवश्य ध्यान रखेंगे कि शिक्षा परिवर्तन का एक सशक्त माध्यम होनी चाहिए। हमें यह भी स्मरण रखना है कि शैक्षिक विमर्श भी व्यवस्था परिवर्तन के विमर्श का अभिन्न अंग है।

डी.एस. पालीवाल
हनुमान बस्ती, खारोल कॉलोनी, उदयपुर
जनजाति क्षेत्र में सामाजिक कार्य करते हैं।

शिक्षा की बुनियाद के वर्ष 2013 के चौथे अंक में महेश पुनेठा जी का लेख ''पाठ्य पुस्तकों के बोझ तले सिसकती रचनात्मकता'' पढ़ा। यह लेख मुझे बहुत अच्छा लगा और इससे मेरे जीवन की कक्षा 2, कक्षा 6 एवं कक्षा 9 के वर्ष की मेरी याद पुनः तरोताजा हो गईं। इस लेख में वर्णित तथ्यों की सत्यता को महसूस करते हुए मुझे प्रसन्नता हुई। मैंने इस लेख को रेखांकित करते हुए मेरे पुत्रों को भी पढ़ाया और बच्चों की रचनात्मकता के संदर्भ में मैंने बहुत कुछ सीखा। मेरी संपूर्ण प्रारंभिक शिक्षा विद्या भवन स्कूल, उदयपुर के प्रांगण में सम्पन्न हुई है, जहां पर मुक्त वातावरण का भंडार भरा हुआ है, जिसका स्तर बनाए रखने के लिए उसका सीधा संबंध शिक्षक के व्यवहार से होता है। मैंने देखा एवं पाया है कि जब भी शिक्षक द्वारा प्रेममय एवं भयमुक्त वातावरण मिला, रचनात्मकता का श्रेष्ठ विकास विविध दिशाओं में हुआ है एवं इसके विपरीत वातावरण में विकास कुंठित हुआ है। इस संबंध में मेरा निवेदन है कि इस लेख का सारांश एवं उसका प्रसार अधिक से अधिक शिक्षा क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के साथ हो। यह कार्य बच्चों के सर्वांगीण विकास में बहुत सहायक होगा।

केशवलाल जालोरा
पूर्व विद्यार्थी, विद्या भवन स्कूल एवं हिंदुस्तान जिंक उदयपुर से सेवानिवृत्त।
देवाली, उदयपुर, राजस्थान

पत्रिका का अगला अंक ''अच्छी शिक्षा/बेहतर शिक्षा/गुणात्मक शिक्षा के मायने'' पर केंद्रित है। अनुरोध है कि आप इस मुद्दे पर हमें सामग्री भेजें।

कहां गए हमारे शहरों के सार्वजनिक स्थल

अनुराग बेहार

सार्वजनिक स्थलों से शहरों का चरित्र बनता है और इससे लोगों में आपसी जुड़ाव पैदा होता है। बढ़ते शहरीकरण ने सार्वजनिक स्थलों को लील डाला है और इसका प्रभाव जनजीवन पर पड़े बिना नहीं रहता। शहर बंद जगहों में रहने वाला समुदाय नहीं होता। शहर तो अपने सार्वजनिक स्थलों से बनता है।

हफ्ते के आखिरी दिनों में मेरा बेटा फुटबॉल खेलता है। कुछ साल पहले, जब हम फुटबॉल खेल रहे थे, तो तीन युवक आए और उन्होंने भी साथ खेलने की इच्छा जाहिर की। पहनावे और बोलचाल से ये भारतीय ही लग रहे थे, लेकिन खेल के दौरान उन्होंने बताया कि वे अफगानिस्तानी हैं। हम आधे घंटे तक साथ खेलते रहे और इस दौरान जितना मजा मुझे आया, उतना ही उन्हें भी आया। जाते समय उन्होंने बताया कि वे बैंगलुरू के गांधी कृषि विज्ञान केंद्र के छात्र हैं। दरअसल, हम केंद्र के ही मैदान पर खेल रहे थे। बाद में कई बार उनके साथ खेलने का मौका आया।

हाल ही में एक इतवार को जब हम वहां खेलने पहुंचे, तो आठ से बारह साल के चार बच्चे हमारे साथ खेलने लगे। इनमें दो बच्चे ऐसे थे, जिनके जूते फटे थे और दो तो नंगे पांव थे। हालांकि, वे फुटबॉल खेलना अच्छी तरह नहीं जानते थे, लेकिन वे पूरे उत्साह से खेले। हमारी बातचीत टूटी–फूटी हिंदी में हुई। उन्हें ज्यादा हिंदी नहीं आती थी और हमें तेलुगू। उन्होंने बताया कि वे पास के ही कंस्ट्रक्शन साइट पर अपने मां–बाप के साथ रहते हैं। वे सुबह नौ बजे से रात नौ बजे तक काम करते हैं। अच्छी बात यह है कि उन्हें इतवार की छुट्टी मिलती है।

अफगान छात्रों और निर्माण मजदूरों के बच्चों जैसे तरह–तरह के लोगों के साथ देश भर के बच्चे खेल सकें, इसकी कितनी संभावना है? शायद जरा भी नहीं। हम जिस दुनिया में रह रहे हैं, उसमें खेलने के ऐसे आमद मैदान ही नहीं बचे हैं। इसके कारण बहुत सारे हैं और जटिल हैं, लेकिन सच यही है कि शहरी जिंदगी में अब सार्वजनिक स्थल खत्म होते जा रहे हैं। ऐसी नई जगह विकसित करने की कोशिशें भी नहीं हो रहीं। कुछेक अपवाद हो सकते हैं, लेकिन हमारे शहरों के पास अब गैर–धार्मिक सार्वजनिक स्थल नहीं बचे।

गांधी कृषि विज्ञान केंद्र का मैदान ऐसा ही एक अपवाद है, जो खूबसूरत भी है। इसे साफ–सुथरा रखा गया है और वह भी सजावटी तौर पर नहीं। इसके आसपास संभ्रांत किस्म की रिहाइश नहीं है। इसलिए वहां हर तरह के लोग आ–जा सकते हैं, मैं भारत के सौ से ज्यादा शहरों में घूमा हूं, इसलिए जानता हूं कि ऐसी सुविधा ज्यादातर शहरों में नहीं है।

शहर बंद जगहों में रहने वाला समुदाय नहीं होता। शहर तो अपने सार्वजनिक स्थलों से बनता है। इससे शहरी माहौल का चरित्र बनता है। हमारे शहरों में अब ऐसे स्थान नहीं हैं, इसलिए उनका कोई चरित्र भी नहीं दिखता और वहां के लोगों में आपसी जुड़ाव भी नहीं दिखता है। सार्वजनिक स्थल का नहीं होना खराब शहरी विकास का एक पहलू भर है। कुल जमा समस्या के तो बहुत सारे आयाम हैं और यह अपने आप में काफी जटिल है। हालांकि, कम से कम देश के शिक्षा संस्थान अपने मैदानों को सभी लोगों के लिए खोलकर इस समस्या को कुछ हद तक दूर कर सकते हैं।

अनुराग बेहार : अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बैंगलुरू के वाईस चांसलर हैं। शिक्षा और समाज के मसलों पर लिखते हैं।

बाल साहित्य और लोक भाषाएं

नवीन डिमरी

यह आलेख यह इंगित करता है कि हमारी क्षेत्रीय भाषाएं व बोलियां शुरू से ही काफी समृद्ध रही हैं। बच्चों के भाषा शिक्षण में हमें इनका व हमारे पास उपलब्ध बाल साहित्य का उपयोग करना चाहिए।

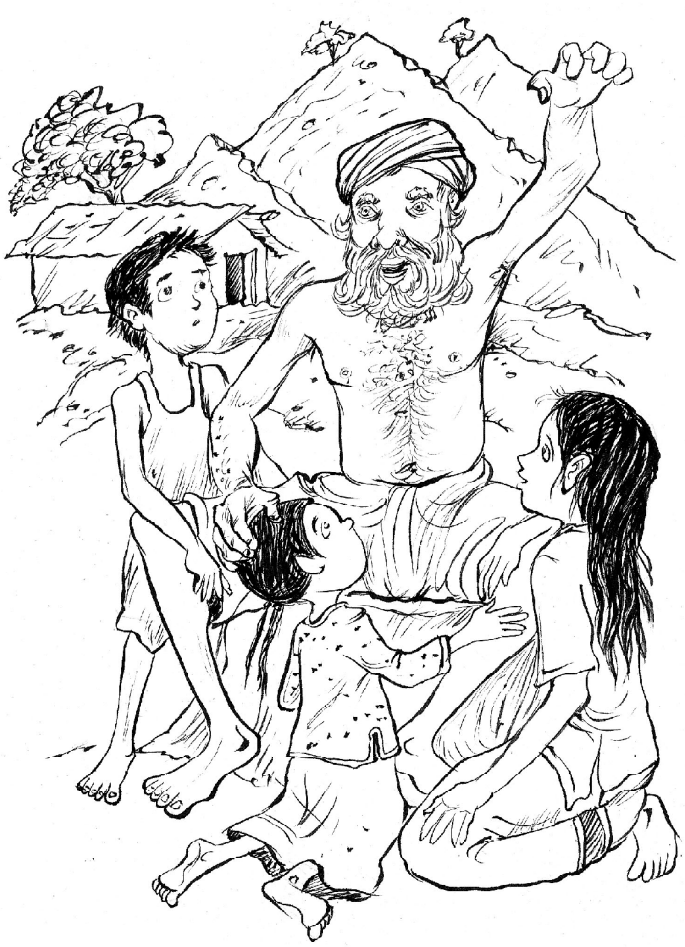

प्राचीन समय में हमारी क्षेत्रीय भाषाएं व बोलियां साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध रही हैं। यह अलग बात है कि वह साहित्य संरक्षित नहीं किया जा सका। क्योंकि लोग स्कूली शिक्षा से वंचित थे। उन्हें बाल साहित्य का ज्ञान तो था किंतु वे उसे लिपिबद्ध करना नहीं जानते थे। एक–दूसरे से सुन–सुनाकर ही यह साहित्य पीढ़ी दर पीढ़ी आज भी हमारे लोक जीवन में कुछ हद तक मौजूद है। इसकी झलक हमें गढ़वाल–कुमाऊं के दूरस्थ अंचलों के साथ ही संपूर्ण भारत के आदिवासी क्षेत्रों तथा आंचलिक समाज में आज भी देखने को मिलती है। यूं तो प्राचीन लोक भाषाओं एवं बोलियों में हर आयु वर्ग के बच्चों के लिए अलग–अलग स्थितियों व परिस्थितियों के गीत, कहानियां, कथाएं, कविताएं, नाटक, चुटकुले, लोरियां, दंतकथाएं व

किंवदंतियां तथा हास–परिहास की ढेर सारी सामग्री मौजूद थी। किंतु आज वे विलुप्ति के कगार पर हैं, जबकि पहले इन्हीं के माध्यम से घर एवं परिवार के स्त्री–पुरुष तथा रिश्तेदार बच्चों को अच्छे संस्कारों, दशाओं तथा विभिन्न परिस्थितियों की जानकारियां देते रहते थे। यह सिलसिला नवजात शिशु के पालने से ही प्रारंभ हो जाता था, जब बच्चा कुछ बोल पाने की स्थिति में तक नहीं रहता। घर के स्त्री–पुरुष, जिनमें दादा–दादी, नाना–नानी, माता–पिता, ताऊ–ताई, चाचा–चाची, बुआएं, भाभियां आदि मनोरंजन के लिए पालने के पास जाकर या बच्चे को गोद में लेकर उससे अपनी बोली–भाषा में समय–समय पर बतियाते रहते थे और लोरियां, बाल साहित्य और लोक कथाएं, लोक गीत आदि सुनाते रहते थे या खुद भी कुछ न कुछ तुकबंदी वाली पंक्तियां रचकर लय के साथ गुनगुनाते रहते थे। अनायास ही इस क्रम में जो कुछ अच्छा भाव, शब्द और लय को रच लिया जाता, तो वह कंठस्थ हो जाता और अन्य लोग भी उन पंक्तियों को अच्छा लगने पर कंठस्थ कर लेते थे। इस प्रकार वह रचा हुआ गीत, पंक्तियां या काव्य जन–जन तक पहुंच जाता और लोक बाल साहित्य के रूप में स्थान पा जाता था। शिशु के साथ बार–बार लोक भाषा में (क्षेत्रीय बोली–भाषा में) व्यवहार करने से बच्चे के कान में अपनी लोक भाषा के शब्दों की ध्वनि प्रक्षेपित होती रहती थी। शिशु भी आमोद–प्रमोद के साथ उन्हें बोलने या समझने का प्रयास करता था। धीरे–धीरे उसमें भाषाई कौशल एवं दक्षताएं विकसित होने लगती थीं और वह जल्दी ही बोलना व समझना प्रारंभ कर लेता था।

कम उम्र में ही उसका शब्दकोष विस्तृत हो जाता था तथा कुछ बड़ा होने पर वह लोक भाषा की हर विधा को समझने व हर भाव को अभिव्यक्त कर सकने में सफल भी रहता और साथ ही उसमें अपनी लोक भाषा, संस्कृति एवं बड़ों के प्रति श्रद्धा व सम्मान भी बना रहता था, किंतु आज परिस्थितियां बदल गई हैं। आज की माताओं के पास अपने शिशुओं को स्तनपान कराने तक की फुर्सत नहीं रही और न ही उनसे अपनी बोली–भाषा में बतियाने की। नई लोरी रचने की तो फिर कल्पना भी क्या की जा सकती।

आज भौतिक युग है, समाज का हर वर्ग धन कमाने की लालसा में अपने कर्त्तव्य और दायित्वों को भी भूल चुका है। हर कोई इस गलत फहमी का शिकार है कि बिना अंग्रेजी के अच्छा रोजगार उपलब्ध नहीं हो सकता। साथ ही खुद को बड़ा और ऊंचा जताने के ओछेपन में लोगों ने अपनी संस्कृति की जड़ें खुद ही खोदनी शुरू कर दी हैं। चंद धनी और ओछे लोगों की अधकचरी अंग्रेजियत के कारण हमारी क्षेत्रीय बोली–भाषाएं और उनका साहित्य आज दम तोड़ चुका है। साथ ही राष्ट्र भाषा कहलाने वाली हिंदी की तड़प भी किसी से छुपी नहीं है। आज ये ही संभ्रांत और तथाकथित बड़े लोग छोटे–बड़े पर्दों (टॉकीज तथा टीवी) पर और शहरों में अपनी 'हिंगलिश' झाड़ते नजर आते हैं। ये ही अधकचरे लोग आज समूचे देश के आदर्श भी बने हुए हैं। बच्चे व आम जनमानस आज इन्हीं का अंधानुकरण कर रहे हैं। अपनी संस्कृति एवं लोक भाषाओं को तिलांजलि दी जा रही है। लोक भाषाओं को व्यवहार में लाने वाले लोगों को आज कमतर व पिछड़ा समझा जाने लगा है। घर के सगे–संबंधी भी इस थोथी मानसिकता के चलते आज अपने ही घर में अपनों के साथ भी अपनी स्थानीय बोली–भाषा में बतियाना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में हमारा लोक साहित्य और संस्कृति भला जीवित कैसे रह सकते हैं?

क्षेत्रीय बोली–भाषाओं के व्यवहार में कमी के कारण आज इन्हें बोलने और समझने वाले लोग भी कम

ही रह गए हैं। जिस कारण इन बोली–भाषाओं में निहित साहित्य और बाल साहित्य आज मिटने की कगार पर है। जिन लोगों के पास लोक साहित्य से संबंधित जो थोड़ी बहुत जानकारी शेष भी है, तो वे उसे आज अव्यावहारिक समझ कर सामने लाना नहीं चाहते और ना ही उसे संगृहीत करने या प्रकाशित करने का प्रयत्न ही करते हैं। शायद उन्हें आज के परिप्रेक्ष्य में यह सब बेवकूफी लगती हो, लेकिन ऐसा नहीं है। आज वह समय आ गया है, जब हमें अपनी क्षेत्रीय बोली–भाषाओं में निहित बाल साहित्य की महती आवश्यकता है। यह एक संक्रमण काल है जो पाश्चात्य संस्कृति के भयंकर तूफान को लेकर हमारी तरफ बढ़ आया है। तूफान में वे ही पेड़ खड़े रह सकते हैं, जो अपनी जड़ों के साथ जमीन से जुड़े होते हैं। यदि हमें सचमुच अपने बच्चों की या आने वाली पीढ़ियों की चिंता है, तो हमें बाल साहित्य के विकास के प्रति चिंतन करना ही होगा। लोक भाषाओं में निहित आंचलिक बाल साहित्य को एकत्र कर उसका समुचित प्रयोग करना होगा। साथ ही वर्तमान लेखन में भी स्थानीय भूगोल, संस्कृति, परंपराओं, जीव–जंतुओं, वनस्पतियों आदि का यथोचित वर्णन होना चाहिए। पहाड़ों पर रहने वाले, मैदानों में रहने वाले, गांव एवं शहरों में रहने वाले बच्चों का परिवेश एवं वहां का स्थानीय भूगोल भिन्न–भिन्न होता है। अतः मानसिकताएं भी भिन्न होती हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि हम पहले लोक भाषाओं के महत्व को समझते हुए, उनमें निहित बचे–कुचे बाल साहित्य को संगृहीत करने का प्रयत्न करें, उसका अध्ययन करें, उसके गुण–दोषों का विवेचन करें, उसमें निहित अंधविश्वासों, रूढ़ियों को हटाएं, उसको विज्ञान की कसौटी पर खरा उतारने का प्रयत्न करें। बच्चों के आयु वर्ग के अनुसार उसका वर्गीकरण करें, साथ ही उसे वर्तमान बाल साहित्य से जोड़ने का प्रयत्न करें, तो अवश्य ही हमारा वर्तमान बाल साहित्य समृद्ध होगा।

आंचलिक या लोक बाल साहित्य में निहित प्रतीकों एवं बिंबों का भी वर्तमान बाल साहित्य में यथोचित प्रयोग होना चाहिए क्योंकि बाल मनोविज्ञान कहता है कि बच्चों को परिवेश से जोड़ा जाना चाहिए। उदाहरण स्वरूप पहाड़ के बच्चों के परिप्रेक्ष्य में उनके साहित्य में गदेरों, नदी–नालों, चट्टानों, जंगलों, घासों, पेड़–पौधों, फूटते झरनों, पहाड़ी से लुढकते पत्थरों, गदेरा पार करते बच्चों, यूंली, बुरांश जैसे फूलों और घुघती, हिलांश जैसे पक्षियों तथा हुड़का, डौंर, ढोल–दमाऊ, रणसींगा जैसे वाद्ययंत्रों व चांचड़ी, झुमेलो, थड्या, चौंफला और पांडव नृत्य जैसे नृत्यों और सरसों–लाही के महकते खेतों आदि का वर्णन होना चाहिए। परिवेश में निहित वस्तुओं को देखने–सुनने, उनको व्यवहार में लाने तथा महसूस कर अनुभव ग्रहण करने से बच्चों में सीखने एवं ज्ञानार्जन की प्रक्रिया तीव्र गति से होती है। परिवेशगत देखी–परखी वस्तुएं, दृश्य एवं अनुभव बाल मन को बहुत रुचिकर लगते हैं। अतः आज इस बात की आवश्यकता है कि हम उपर्युक्त बातों पर विचार करते हुए बाल साहित्य को समृद्ध करने का प्रयत्न करें। साथ ही समाज में व्याप्त अंधविश्वासों, कुरीतियों और गलत धारणाओं को गलत समझने या उनका विरोध कर सकने की क्षमता भी बच्चों में विकसित करने का प्रयास होना चाहिए।

नवीन डिमरी 'बादल': राजकीय जूनियर हाईस्कूल डिम्बर सिमली, (चमोली), उत्तराखण्ड में शिक्षक हैं।

बुनियादी तालीम में मेरा सफर

दयाल चंद्र सोनी

गत अंक में हमने जाना कि स्व. दयाल चंद्र सोनी ने 17 वर्ष की अवस्था में बिना किसी प्रशिक्षण के बुनियादी तालीम के मदरसे में बुनियादी तालीम पर प्रयोग करने का चुनौतीपूर्ण काम हाथ में लिया और कैसे उन्होंने अपनी सूझबूझ व प्रयोगधर्मिता के आधार पर मजबूती के साथ बुनियादी तालीम का ढांचा खड़ा किया। इस काम में उन्होंने कई चुनौतियों का सामना करते हुए बुनियादी तालीम के अर्थ को गढ़ने व समझने की कोशिश की। इसी क्रम में प्रस्तुत है आगे की कहानी ...

सन् 1945 में विद्या भवन के अधिकारियों ने मुझे बुनियादी शिक्षा का काम देखने के लिए ई. डब्ल्यू. आर्यनायकम् तथा आशादेवी आर्यनायकम् के पास सेवाग्राम भेजा। मेरे सौभाग्य से महात्मा गांधी का कार्यक्रम भी कुछ ऐसा बना कि वे भी उन दिनों सेवाग्राम में आ गए और दस दिनों तक मुझे उनका सान्निध्य भी मिल पाया। मेरी उनसे रूबरू बात तो नहीं हुई पर किसी और बहाने से बुनियादी शिक्षा विषय में उनसे बोध पाने का अवसर मुझे प्राप्त हो गया। खास बात जो मैंने सेवाग्राम में देखी तथा सीखी वह यह थी कि जो लोग वहां बुनियादी शिक्षा का प्रशिक्षण ले रहे थे, वे हाथ से चक्की चलाकर अनाज भी पीसते तथा अपने शौचालयों को स्वयं साफ करते। हरिजन, चपरासी, क्लर्क वगैर का काम वहां देखने में नहीं आया। सेवाग्राम से विनोबाजी का पवनार आश्रम दूर नहीं था तो विनोबाजी से मैंने बुनियादी शिक्षा पर बातें भी की। इस यात्रा से जब मैं लौटा, तो मैंने अपने स्कूल में ''नियोजित सेवा'' अथवा ''एलॉटेड सर्विसेज'' के नाम से एक नई योजना शुरू की, जिसका भावी लक्ष्य यह था कि स्कूल में ''पीयोन'' या चपरासी नाम का व्यक्ति न रहे और यथा संभव कलर्क रूपी कार्यकर्त्ता से भी छुट्टी मिल जाए। पीयोन या चपरासी तथा कलर्क लोग स्कूल में जो काम करते हैं, उन कामों में तो शिक्षा प्राप्ति की दृष्टि से कई संभावनाएं भरी हुईं हैं। तो कलर्क एवं चपरासी लोग न केवल स्कूल से पैसा लेते हैं बल्कि बच्चों या विद्यार्थियों की ठोस शिक्षा के अवसर भी छीन लेते हैं।

इन बातों को सोचकर हमने हर कक्षा में एक नए विषय का शिक्षाक्रम जोड़ा जिसका नाम ऊपर कहे मुताबिक ''नियोजित सेवा'' रखा गया। कौन सी कक्षा पूरे स्कूल के लिए कौन सी जिम्मेदारी उठाएगी, इसका निर्णय या दायित्व विभाजन किया गया। पीरियड्स की घंटी बजाना, कृषि के औजार संभालने का दायित्व, कताई के लिए रूई–पूनी सप्लाई का काम, स्टेशनरी की छोटी दुकान चलाने का काम, पुस्तकालय संभालने का काम, वाचनालय संभालने का काम, मध्यांतार में नाश्ता बांटने का काम, कुएं से पानी खींच कर सारे स्कूल के लिए पानी भरने का काम, प्रार्थना सभा के लिए जाजम

बिछाने का काम, स्कूल शुरू करने से पहले कमरों में झाड़ू लगाने और स्कूल परिसर की सफाई का काम, कृषि के लिए बीज भंडार संभालने का काम, ऐसे सारे काम अलग–अलग कक्षाओं की जिम्मेदारियां बनाकर बांट दिए गए। बेशक, चपरासी एवं कलर्क से पूरी तरह छुटकारा तो नहीं मिला, परंतु स्कूल की व्यवस्था में विद्यार्थी न केवल आत्मनिर्भर हुए बल्कि दायित्वनिर्वाह की शिक्षा का एक नया आयाम उनकी शिक्षा में जुड़ गया। इससे यह बात समझ में आई कि शिक्षा पाने के लिए जीवन की जिम्मेदारियों से जुड़ना तथा उन जिम्मेदारियों को निभाना शिक्षा में बाधा नहीं बल्कि शिक्षा में सहायक है।

एक नया प्रयोग यह किया कि पूरे कार्य वर्ष के कुल 240 दिन निश्चित कर दिए गए। साप्ताहिक छुट्टी, त्योहारों की छुट्टी तथा गर्मियों की छुट्टी के दिन कुल मिलाकर 125 या 126 ही हो सकते थे। इन 240 कार्य दिवसों को तीस–तीस कार्य दिवसों में कुल आठ कार्यमासों में बांटा गया ताकि हर कार्यमास की अवधि छुट्टियों को निकालकर के बराबर हो, तो स्कूल की सभी कक्षाओं का पाठ्यक्रम बराबर की आठ इकाइयों में बांटा गया। इसके लिए कक्षाओं के हाजिरी रजिस्टर ऐसे विशेष बनाए गए, जिनमें महीने जनवरी, फरवरी वाले नहीं रहें। रजिस्टर में दो प्रकार से तारीखें चलती थीं, जिससे पता चले कि आज कैलेंडर की तारीख कौनसी है और आज स्कूल के किस कार्यमास का कौनसा कार्यदिवस है। इस कार्यमास व्यवस्था में एक बात यह तय की गई कि कार्यमास में 28 कार्यदिवस तो कक्षा शिक्षण को मिलेंगे जिसके बाद 29 वें कार्यदिवस को पूरे स्कूल की बैठक होगी, जिसमें हर कक्षा महीने भर की अपनी नियोजित सेवा के कार्य की रिपोर्ट पेश करेगी और हर तीसवें दिन स्कूल तो बंद रखा जाएगा और हर कक्षा किसी न किसी जगह भ्रमणार्थ या आउटिंग के लिए जाएगी। ताकि उसका प्रकृति से या किसी ऐतिहासिक अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान से परिचय हो और विद्यार्थी एवं शिक्षक एक दूसरे के ज्यादा निकट आ सकें।

नियोजित सेवा योजना एवं आठ कार्यमास योजना, जिसके अंतर्गत निजदायित्व निर्वाह की समीक्षा भी शामिल थी, एक बहुत उपयोगी प्रयोग साबित हुआ। इससे हमें बुनियादी शिक्षा के एक नए स्वरूप के दर्शन प्राप्त हुए। हमने देखा कि बच्चे अपनी शिक्षा स्वयं करने में या स्वयं चलाने में दक्ष हो रहे हैं और वे अपने जीवन को एक ऐसी शैली में जीना सीख रहे हैं कि वे स्कूल के बाहर तथा शिक्षकों के बिना अपनी जीवन प्रक्रिया को एक संयुक्त शिक्षण प्रक्रिया बना सकेंगे। शिक्षा वही श्रेष्ठ है, जो शिक्षा प्राप्त करने की कला में विद्यार्थी को भविष्य के लिए आत्मनिर्भर बना दे, ताकि स्कूल के बाहर तथा शिक्षक के बिना मनुष्य की जीवनशैली स्वयं उसकी आजीवन शिक्षा करती रहे। इस विषय में मेरे निवास स्थान उदयपुर की मेवाड़ी बोली में दो पंक्तियां इस प्रकार हैं–

विद्यालयां रो आसरो चिरकाल तक संभव नहीं।
जो आत्मशिक्षण री कला खुद सीख ले शिक्षित वही।।

बुनियादी शिक्षा में उद्यम तथा उससे होनेवाली कमाई की बात सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में बुनियादी शिक्षा की मूलयोजना में एक बात यों लिखी गई थी कि विद्यार्थियों के उद्यम से जो शुद्ध लाभ होगा या शुद्ध कमाई होगी, उससे शिक्षकों के वेतनों का खर्चा निकलने की भी संभावना है। कुछ वर्षों तक बुनियादी शिक्षा में काम करने के बाद मुझे बुनियादी शिक्षा के इस खयाल पर कुछ ऐतराज होने लगा। मेरा एक ऐतराज तो यह होने लगा कि उद्यम में विद्यार्थी की फितरती दिलचस्पी तो जरूर है जैसाकि जाकिर साहब ने हमें हमारी ट्रेनिंग के दौरान सन् 1942 में समझाया था, पर

विद्यार्थी की यह दिलचस्पी उद्यम में तभी तक रह सकती है, जबतक कि उद्यम के परिश्रम का पहलू पूरा करने वाला विद्यार्थी उस परिश्रम से होने वाली कमाई का फल भी स्वयं ही चख सके। उद्यम में श्रम का पहलू तो विद्यार्थी अनुभव में लावे, लेकिन फल का पहलू उसे घर ले जाने के लिए न मिले और उसे स्कूल ही में रख लिया जाए तो उद्यम का यह अपूर्ण तथा खंडित अनुभव ही बच्चों को मिलेगा और तब उद्यम, उद्यम तो रहेगा, पर शायद वह बच्चे की रुचि का जीवंत केंद्र तो नहीं रह सकेगा। एक ऐतराज तो मुझे यह लगा, पर एक दूसरा ऐतराज भी मुझे लगा कि जब एक निर्धन परिवार का बच्चा स्कूल में आने लगता है, तो वह निर्धन परिवार बच्चे की उस श्रम सहायता से वंचित हो जाता है जो स्कूल में नहीं जाने की स्थिति में परिवार को अपने बच्चे से मिलती थी। अब परिवार के पास तो ऐसी कोई शक्ति या तरकीब नहीं है कि वह अपने बच्चे को स्कूल भेजने से होने वाले आर्थिक घाटे की पूर्ति कर सके। उधर सरकार के पास तो सत्ता है जो कि स्कूलों का खर्चा तथा शिक्षकों को वेतन जुटाने हेतु टैक्स लगा सके या टैक्स बढ़ा सके, तो इन दोनों दृष्टियों से मैंने अपनी संस्था के संचालक मंडल में यह प्रस्ताव रखा कि विद्यार्थियों के उद्यम से उस पर होने वाले स्कूल के खर्चे को निकाल कर जो शुद्ध लाभ या कमाई हो उसे स्कूल में रखने के बजाए विद्यार्थियों में ही वितरित कर दिया जाए यानी उस पर विद्यार्थियों का ही हक माना जाए। बेशक, मेरा यह प्रस्ताव बुनियादी शिक्षा योजना में निहित एक महत्त्वपूर्ण प्रावधान के विपरीत था, पर मेरे स्कूल के संचालक मंडल ने मेरे इस प्रस्ताव को खुशी से स्वीकार किया, जिस पर मैंने अपने स्कूल में अमल किया। शुद्ध कमाई का आंकड़ा पूरी कक्षा के लिए ही ज्ञात हो सकता था, जिसे कक्षा के छात्रों में व्यक्तिशः बांटने का आधार था विद्यार्थी की स्कूल में अपनी हाजिरी का अनुपात। बेशक, यह कमाई बहुत ज्यादा तो नहीं होती थी, फिर भी कुछ तो होती थी, जो बच्चों के लिए स्टेशनरी वगैरा खरीदने के काम आती थी। तो यह भी माता–पिता के लिए कुछ बचत का साधन तो था। तालीम सार्वजनीन नहीं हो पाने का मूल कारण यह है कि तालीम निर्धन बच्चों के लिए आर्थिक राहत नहीं है, क्योंकि आज की तालीम में कोई आर्थिक ताकत नहीं है। मजदूरी यद्यपि बदनाम है, पर वह निर्धन बच्चों के लिए एक राहत है। यदि हम तालीम को भी निर्धन बच्चों के लिए आर्थिक राहत बना दें, तो निर्धन बच्चे भी तालीम पा सकेंगे और तालीम सार्वजनीन हो सकेगी।

मेरा बुनियादी मदरसा सन् 1941 में शुरू हुआ। शुरू में कक्षा पहली खुली थी। धीरे–धीरे यह पहली कक्षा सातवीं कक्षा में पहुंच गई और सातवीं कक्षा गांधीजी की बुनियादी शिक्षा योजना की अंतिम कक्षा मानी गई थी। अब सवाल यह पैदा हुआ कि जो विद्यार्थी इस सातवीं कक्षा के बाद स्कूल जाना बंद करके अपने घर के पैतृक धंधे में तो नहीं लगे और आगे हाई स्कूल की नवीं कक्षा में भर्ती होना चाहें, उनका रास्ता कैसे खुले तथा कैसे साफ हो। हमारे चारों तरफ सारे स्कूल गैर बुनियादी थे। स्वयं हमारी संस्था का भी मुख्य विद्यालय तो गैर बुनियादी ही था। इन सारे गैर बुनियादी स्कूलों में उद्यम के बजाए अंग्रेजी भाषा की पूजा थी तथा उसी का वर्चस्व था और मेरे बुनियादी विद्यालय की तो समझ सात कक्षाओं में अंग्रेजी के नाम पर एबीसीडी भी नहीं सिखाई गई थी। सात वर्षों में पूरी शिक्षा में अंग्रेजी को कोई भी स्थान मिला नहीं था और शिक्षा का माध्यम केवल हिंदी ही रहा था। कुछ विद्यार्थी मेरे स्कूल में भी ऐसे जरूर थे जो कक्षा 7 पर ही अपनी शिक्षा समाप्त नहीं करना चाहते थे और आगे हाई स्कूल में भर्ती होना चाहते थे। तो इस समस्या पर हमने

विचार किया और हमने अपने विद्यालय में एक संयोजक कक्षा के रूप में आठवीं कक्षा भी खोली। इस कक्षा में उद्यम का विषय नहीं रखा गया, पर दूसरे स्कूली विषय रखे गए जिनमें एक नया विषय अंग्रेजी भाषा का भी शुरू किया गया। अब सवाल यह था कि दूसरे स्कूलों में तो अंग्रेजी शिक्षण यदि पहली दूसरी में नहीं, तो तीसरी कक्षा से तो शुरू हो ही जाता है। इस प्रकार नवीं कक्षा में भर्ती होने वाला विद्यार्थी कम से कम छः वर्षों तक अंग्रेजी पढ़ कर नवीं कक्षा में भर्ती होता है। तो मेरा विद्यार्थी केवल एक ही वर्ष तक इस संयोजक कक्षा अथवा ''लिंक क्लास'' में अंग्रेजी पढ़ कर आठवीं कक्षा के छात्र के समान स्तर पर अंग्रेजी ज्ञान कैसे प्राप्त कर पाएगा।

पर मैंने हिम्मत नहीं हारी तथा खुद ही अंग्रेजी को हिंदी के माध्यम से पढ़ाने के लिए एक पाठ्यक्रम की रचना कर डाली तथा उस पाठ्यपुस्तक के आधार पर मैंने अपनी उस संयोजक कक्षा अथवा लिंक क्लास को अंग्रेजी पढ़ाई। इस लिंक क्लास में मेरे द्वारा रचित हिंदी के माध्यम से अंग्रेजी पढ़ाने वाली पाठ्यपुस्तक से अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करके मेरा एक विद्यार्थी हमारी बड़ी संस्था विद्या भवन के ही पुराने हाई स्कूल की नवीं कक्षा में भर्ती होने गया। इस स्कूल की नवीं कक्षा में भर्ती होने के लिए कई विद्यार्थी दूसरे मिडिल स्कूलों से छः छः वर्षों तक अंग्रेजी पढ़ कर भी आए थे। विद्या भवन के हाई स्कूल में भर्ती चाहने वाले विद्यार्थियों की जो जांच उनकी भर्ती के पूर्व की गई उसमें मेरे स्कूल का विद्यार्थी अंग्रेजी ज्ञान में प्रथम स्थान पर रहा। इस घटना से यह सिद्ध होता है कि यदि हम एक भाषा में ठीक तरह से, उस भाषा की व्याकरण के ज्ञान के साथ, दक्ष हो जाते हैं तो उस भाषा की दक्षता का सहारा लेकर हम किसी भी दूसरी भाषा को आसानी से कभी भी सीख सकते हैं और उसके लिए आंगनवाड़ी या नर्सरी स्कूल से ही बच्चों को कृत्रिम अंग्रेजी संतानों का रूप देना बिलकुल भी जरूरी नहीं है। मैं सन् 1954 में भारतीय ग्राम शिक्षाविदों की एक टोली में तीन माह के लिए डेनमार्क में रहा। हमारे लौटने में केवल 15 दिन शेष थे। मैंने एक डिक्शनरी 'डेनिश टु इंग्लिश' वाली तथा दूसरी 'डिक्शनरी इंग्लिश टु डेनिश' वाली खरीदी और डेनिश वाक्य का विन्यास यानी सींटेक्स अंग्रेजी के वाक्यविन्यास यानी सींटेक्स को एक समान जान लेने के बाद श्रवण कुमार की कहानी डेनिश भाषा में लिख दी तथा डेनिश इंटरनेशनल फोक हाई स्कूल एल्सिनोर ने हमारी विदाई का जो समारोह रखा, उसमें मैंने वह कहानी पढ़कर सुनाई, जिसके प्रथम दो वाक्य तो मुझे आज भी याद हैं। वे वाक्य थे ''इ गेम्ले डेए डर लीव्ड एन उंग ड्रेंग इ' इंडियन व्हिस नाउन वार श्रवण कुमार। हैन्स फॉर एल्ड्रे वार गेम्ले ऑ। ब्लीने।'' यानी ''इन ओल्डन डेज देयर लिव्ड ए यंग बॉय इन इंडिया हूज नेम वॉज श्रवण कुमार। हिज पेरेंट्स वर ओल्ड एण्ड ब्लाइंड।'' तो मुझे जो सबक मिला वह यह था कि कक्षा 7 तक की हमारी राष्ट्रीय शिक्षा पर से यदि अंग्रेजी का हिमालयी भार हाट दिया जाए तो हमारे कोमल आयु के बच्चों की जो अपार शक्ति अंग्रेजी पर खर्च होती है, उसे बच्चों की रुचि के उद्यम सीखने में लगाया जा सकता है और बाल्यजीवन को अंग्रेजी के टेंशन से मुक्त किया जा सकता है। लेकिन सुनेगा कौन, मानेगा कौन। आज तो ऐसा लगता है कि यदि शिक्षा पर अंग्रेजी का वर्चस्व नहीं रहा तो भारत की शिक्षा विधवा हो जाएगी। आज अंग्रेजी रहित शिक्षा की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती है। शिक्षा का मतलब हो गया है अंग्रेजी। मेरा नम्र निवेदन देश के कुलीनतावादी या एलीटिस्ट वर्ग से यह है कि अंग्रेजी को शिक्षा का पर्याय अथवा ईक्वीवेलेंट बना देना आपको खूब–खूब मुबारक हो, लेकिन खुदा के वास्ते देश की आम जनता पर तो रहम

खाइए और इसी इंग्लिश रूपी शिक्षा को आम जनता पर थोपने से तो बाज आइए। तालीम का स्वरूप यदि इतना अंग्रेजीमय रखना है जितना ब्रिटिश राज्य में मैकॉले तक ने नहीं सोचा था, तो खुदा के वास्ते संविधान की धारा 45 को रद्द करके तालीम को सार्वजनीन बनाने की जिद छोड़ दीजिए। स्कूलों में भर्ती हुए बिना ही हमारी जनता शिक्षित होती रही है और भविष्य में भी होती रहेगी। शिक्षा स्कूलों की मुहताज बिल्कुल नहीं है और शिक्षा पर स्कूलों की कोई ठेकेदारी या मोनोपोली नहीं है। उदयपुर की स्थानीय मेवाड़ी बोली में इन पंक्तियों पर गौर फरमाइए–

प्रातःकाल व्हठे भी व्है है जठे कुकड़ों नहीं बोले।
और व्हठे भी व्है है शिक्षा जठे स्कूल थूं नीं खोले।।

मैं स्कूल का विरोधी नहीं हूं। मैं तो स्कूल का समर्थक हूं, पर यदि स्कूल की शिक्षा को लोकवादी नहीं बनने देने का और उसके स्वरूप को कुलीनतावादी ही रखने का दुराग्रह कायम रखना है,तो आम जनता को खुदा के वास्ते अशिक्षित रहने की छूट तो दे दीजिए। खैर, इस प्रसंग को फिलहाल यहीं छोड़कर हम आगे बढ़ेंगे और उसके बाद शीघ्र ही मैं अपने इस तालीमी सफरनामे को समाप्त करूंगा।

एक बार ऐसा हुआ कि विद्या भवन के दूसरे स्कूल के प्रधानाध्यापकजी को मैंने अपने स्कूल में इसलिए भाषण देने हेतु बुलाया कि वे एक वर्ष तक इंग्लैंड में ऊंची शिक्षा लेकर लौटे थे। इन प्रधानाध्यापकजी ने अपने भाषण में एक बात यह कही कि इंग्लैंड में उन्होंने कुछ छोटी दुकानें ऐसी देखीं जिनमें फुटकर सामान रखा था तथा हर सामान की बिक्रीदर लिखी हुई थी। पैसों की या गल्ले की पेटी भी रखी हुई थी, पर दुकानदार नहीं था। जनता इन दुकानों से सामान स्वयं लेती और बिक्रीदर की सूची के मुताबिक सामान का मूल्य दुकान के गल्ले में खुद ही डाल देती। इंग्लैंड की आम जनता में कितनी ईमानदारी है, इसका एक एक ज्वलंत उदाहरण था। एक शिक्षक की हैसियत से जब मैंने विचार किया, तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि अगर मैं अपने विद्यार्थियों को ईमानदार बनाना चाहता हूं, तो मुझे अपने विद्यार्थियों पर शक और शुबहा करना तो छोड़ना होगा और उन पर विश्वास करने की हिम्मत तथा जोखिम भी उठानी होगी। मेरे मन में आया कि यदि ईमानदारी के कारण मैं किसी का विश्वास करता हूं तो इसकी उलटी बात भी सही है कि जिस पर विश्वास किया जाता है वही ईमानदार बनेगा। हम केवल झूठ या बेईमानी को ही कोसते हैं और उन्हीं को पाप मानते हैं, हम अविश्वास और शक को न तो कोसते हैं और न ही उसे पाप मानते हैं। शासक और पुलिस के लिए यह ठीक हो सकता है, पर शिक्षक के लिए यह ठीक नहीं है। जैसे शरीर की बीमारियों का इलाज अस्पतालों में होना चाहिए वैसे ही नैतिक बीमारी का इलाज स्कूल रूपी हॉस्पीटल में होना चाहिए और उसकी जो थेरापी या चिकित्सा है, वह है विद्यार्थी को विश्वास का वाष्पस्नान कराना। ऐसा एक अहसास मुझे हुआ और मुझे शिक्षा शास्त्र का एक नया सबक सीखने को मिला। इस पर मैंने एक छोटा सा प्रयोग किया जो इस प्रकार का था। एक दिन मैंने स्कूल की प्रार्थना सभा में कहा– ''देखो भाई, उस खिड़की में मैंने एक दुअन्नी रख दी है। आप में यदि कोई विद्यार्थी उसे चुराना चाहे तो चुरा ले। मैं कल दूसरी दुअन्नी रख दूंगा। मैंने जब यह प्रयोग शुरू किया तो शुरू शुरू में एक दो माह तक तो रोज ही वह दुअन्नी गायब होती रही, पर धीरे–धीरे उस दुअन्नी को गायब होने में दो चार दिन लगने लगे, उसके बाद आठ दस दिन लगने लगे और उसके बाद महीनों तक दुअन्नी पड़ी रहने लगी और उसे उठाना लगभग बंद हो गया। बाद में तो वह दुअन्नी ऐसे मौकों पर गायब होती कि तब किसी कारण से सारे स्कूल में कोई

जलसा या विशेष कार्यक्रम होने से माहौल उखड़ा उखड़ा सा बन जाता। मैंने महसूस किया कि छात्र का विश्वास करना ही छात्र को सम्मान देना है। यदि शिक्षक अपने छात्र का विश्वास करने की जोखिम नहीं उठा सके या इसकी हिम्मत नहीं रख सके, तो विद्यार्थी में आत्म सम्मान पैदा नहीं होगा और यदि विद्यार्थी में आत्मसम्मान पैदा नहीं होगा तो उसमें ईमानदारी पैदा नहीं होगी। बुनियादी तालीम में उद्यम को मुख्य स्थान है। बुनियादी तालीम में वस्तुएं बनती हैं, खेती के काम में सब्जी पैदा होती है, फल उगते हैं। इसमें चोरी का भी मौका है, ईमानदारी रखने का भी मौका है। उसमें ईमानदारी पर कोरा भाषण तथा कोरा कविता पाठ या हरिश्चंद्र का कोरा नाटक नहीं है। उसमें चोरी का भी अवसर है और चोरी के लोभ को रोकने के अभ्यास का भी प्रत्यक्ष अवसर है। विद्यार्थी को पता है कि वस्तु या फल के पीछे कोई मेहनत है, कोई पसीना है, कोई रखवाली तथा हिफाजत की साधना है जिसका उसे स्वयं अनुभव है तो ईमानदारी का संस्कार ऐसी स्थिति में ही पड़ सकता है। गांधीजी ने बुनियादी तालीम निकाली और उसे शिक्षा में अहिंसक क्रांति का नाम दिया। अहिंसा मूलतः क्या चीज है? मैं तो ईमानदारी को ही सब से बड़ी अहिंसा मानता हूं। सत्य को मारना, सत्य का गला घोंटना, कपट तथा चोरी करना, रिश्वत लेना, सबसे बड़ी हिंसा यही है। बेशक किसी की शारीरिक हत्या करना भी हिंसा है, पर मूलतः हिंसा हमारे झूठ कपट और भ्रष्टाचार में समाई हुई है जिसका निवारण पुलिस के थानों द्वारा नहीं बल्कि शिक्षकों के विद्यालयों से ही संभव है, बशर्ते कि स्कूल अपनी एक काल्पनिक दुनिया में न रहे जहां परिश्रम, पसीना और उत्पादन तो सर्वथा वर्जित हों और बिन उपजाए खाने और बौद्धिक विलास में डूबे रहने की शेखी हो।

तो इस प्रकार बुनियादी तालीम में मेरा सफर चल रहा था, मेरे प्रयोग भी चल रहे थे। पर सन् 1947 में हमारा देश आजाद हो गया और जो गांधी अंग्रेजों के राज्य में सुरक्षित रहकर गांधीवाद को फैलाता रहा था, उसकी शारीरिक हत्या भी आजाद भारत में हुई जो किसी सिरफिरे ने की थी और उसकी उसूली या सैद्धान्तिक हत्या भी आजाद भारत में हुई जो किसी सिरफिरे ने नहीं की बल्कि वह हत्या देश के बौद्धिकों तथा देश के समझदारों ने की। सन् 1955–56 में मेरी तथा मेरे स्कूल की किस्मत बदल गई। एकदम बदल गई। पहले तो मुझे बेसिक स्कूल से हटाया गया। मेरे लिए यह एक बड़ा झटका था। मैंने कभी नहीं चाहा कि मेरा स्कूल से ट्रांसफर हो या मेरा कोई और ऊंचे पद पर प्रमोशन हो। मैंने अपने साथ हुए इस बर्ताव का विरोध किया। नतीजा यह निकला कि मुझे अनुशासनहीन माना गया और मुझसे माफी मांगने की तवक्को की गई। मेरे जमीर ने इसे नामंजूर किया। नतीजतन मुझे संस्था से निकाल दिया गया। बेशक, यह मेरे लिए एक विपत्ति थी, एक बदकिस्मती थी, लेकिन इस विपत्ति में मुझे एक प्रमाण ऐसा मिला जो मेरे लिए एक बड़े सुकून का बाइस है और जो बुनियादी तालीम की कामयाबी का भी सबूत है।

जब मेरा तबादला मेरे बुनियादी मदरसे से दूसरे बड़े स्कूल में किया गया, तब तो बुनियादी मदरसे के विद्यार्थियों के वालदेन कुछ समझ नहीं पाए और शांत रहे। पर जैसे ही उन्होंने सुना कि मुझे तो सेवाओं से निकाल दिया गया है, उन्होंने बुनियादी मदरसे में अपने बच्चों से हड़ताल करवा दी और उनकी प्रतिनिधी टोली मेरे पास आई। इस टोली ने मुझसे कहा, ''हम आपको पांच बीघा जमीन, जिसमें कुएं से सिंचाई का प्रबंध है, दे देंगे और एक गांव में हमारा पंचायत घर दे देंगे। हम इस बुनियादी मदरसे में अपने बच्चे नहीं भेजेंगे। हम आपको उठाकर ले जाएंगे और हमारे बच्चों की

तालीम आप ही करेंगे।'' पर मेरे सामने एक सवाल था कि मैं उसी संस्था का पूर्व छात्र था जिसने मुझे निकाला था और वह बुनियादी मदरसा मेरे ही खून पसीने से सींचा गया था कि जिसका बहिष्कार मेरे विद्यार्थियों के माता–पिता कर रहे थे। इस धर्म संकट में मैंने उन्हें समझाया कि वे मुझे धर्मसंकट से बचाएं और अपने बच्चों को उसी स्कूल में भेजते रहें। तो इस घटना का खास महत्त्व और खास निचोड़ क्या है? निचोड़ यह है कि जो वाल्देन मुझे सन् 1941–42 में यह कहते थे कि खेती और मेहनत मशक्कत तो हमारे घरों में ही मौजूद है और अगर स्कूल में भी वही खेती और मेहनत मशक्कत है तो हम अपने बच्चों को स्कूल क्यों भेजें, वे ही वालदेन सन् 1956 में यानी 15 वर्षों बाद यों बोल गए कि हम खेती सिखाने के लिए पांच बीघा सिंचित भूमि खुद देंगे और स्कूल के लिए आवश्यक परिसर तथा घर भी खुद देंगे, पर हमारे बच्चों की तालीम तो वही होनी चाहिए जो आपने चलाई तथा आपने दी। तो बुनियादी तालीम के लिए इससे बड़ा या इससे बढ़कर प्रमाणपत्र ग्रामीण जनता की तरफ से क्या हो सकता है?

इस घटना को कई बरस बीत गए। मेरे निष्कासन पर पैदा हुई आपसी कटुता धीरे–धीरे समाप्त हो गई। एक दिन मेरी संस्था के एक बड़े जिम्मेदार अधिकारी के साथ मेरे बुनियादी मदरसे का फिर से जिक्र छिड़ गया तो प्रसंगवश मेरे मुंह से यह बात निकली कि बुनियादी तालीम का प्रयोग तो बेशक कामयाब साबित हुआ। तो सहज रूप से उन साहब के मुंह से यह निकला कि ''तुमने यह कैसे मान लिया कि बुनियादी तालीम को कामयाब साबित करने के लिए तुम्हें उस काम में लगाया गया?'' बेशक उन्होंने यह बात केवल मजाक में ही की थी। पर क्या यह एक सच्चाई नहीं है कि अगर सचमुच बुनियादी शिक्षा कामयाब हो जाती और चल निकलती तो देश में चल रहे बहुत से निहित स्वार्थों के लिए गंभीर संकट पैदा हो जाता।

मुझे बिलकुल साफ दिखाई देता है कि आजादी से पहले के जमाने में तो भारतीय जनमानस में ऐसी एक ललक जरूर थी कि मैकॉलेवादी सरकारी शिक्षा से अलग राष्ट्रीय चरित्रवादी और जनवादी शिक्षा का प्रयोग एवं प्रचार किया जाए। ऐसे जनमानस की वजह, उस जमाने में अनेक आदर्शवादी शिक्षण संस्थाएं हमारे पूरे देश में कायम हुईं और लोक समर्थन तथा लोक सहायता से चली थीं। उस समय मैकॉलेवादी राजकीय शिक्षा में गैर मैकॉलेवादी राष्ट्रीय शिक्षण को न तो रोका था और न समाप्त किया था। पर आज उसी मैकॉलेवादी शिक्षा का एक राजकीय रोडरॉलर देशभर में चल रहा है और देश की संपूर्ण शिक्षा की एक ऐसी लामबंदी या उसका ऐसा रजिमेंटेशन हो गया है कि जिससे अलग कुछ कर पाना तो दूर, कुछ सोच पाना भी दुर्लभ और कठिन है। राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि हम आजाद हुए हैं पर शैक्षिक दृष्टि से देश की आजादी लुप्त सी हो गई है। राजनीतिक आजादी ने हमें इतना घेर लिया है कि शैक्षिक आजादी का प्रश्न ही हमारी निगाहों से ओझल हो गया है। इस प्रसंग में मैं अपने शहर उदयपुर की स्थानीय बोली में ये पंक्तियां पेश करते हुए अपना यह निबंध समाप्त करता हूं। आपने मुझे ध्यानपूर्व सुना उसके लिए आभारी हूं और यदि मैंने कुछ गलत कहा हो तो क्षमा मांगता हूं। वे चार पंक्तियां इस प्रकार हैं–

जनतंत्र यो नीं है कि जनता शासकां ने चुण सके।
जनतंत्र तो व्हो कि जनता शिक्षकां ने चुण सके।।
निज शिक्षकां रा चयन में जब लग प्रजा परतंत्र है।
तब लग कठे स्वातंत्र्य है, तब लग कठे जनतंत्र है?

स्व. दयाल चंद्र सोनी : विद्या भवन बुनियादी मदरसे के प्रथम प्रधानाध्यापक (1941) एवं प्रमुख गांधीवादी विचारक। यह लेख दयालचंद्र सोनी द्वारा 1998 में लिखा गया था।

थॉमस बैबिंगटन मैकॉले

अमन मदान

दरअसल भारतीय शिक्षा व्यवस्था और उसकी कमियों पर जब भी बहस होती है, तो उसका सारा दोष ''मैकॉले की शिक्षा'' कह कर मैकॉले पर मढ़ दिया जाता रहा है। हकीकत यह है कि बहुत कम लोग ही मैकॉले के बारे में जानते हैं, यह सही है कि उसने अपने 'मिनट्स' में भारत में अंग्रेजी उपनिवेश की जरूरत को पूरा करने के लिए अंग्रेजी शिक्षण व्यवस्था की सिफारिश की थी। लेकिन आज हम देखते हैं कि मैकॉले शिक्षा पद्धति चल रही है। आलेख में मैकॉले और उसकी शिक्षा के दूसरे पक्ष को प्रस्तुत किया गया है।

बैबिंगटन मैकॉले (1800–1859) ने कुछ ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की तरह ही भारतीयों की निंदा और नाराजगी को आकर्षित किया है। राबर्ट क्लाइव इर्विन और वावेल को उस तल्खी से याद नहीं किया जाता, जैसाकि मैकॉले को। केवल जनरल डायर 'अमृतसर के कसाई' में इसी तरह के तिरस्कार को आकर्षित करने की क्षमता है। डायर को 'सैनिक जूते के बल पर कुचलने वाला' के रूप में देखा जाता है, तो मैकॉले भारतीय संस्कृति के विध्वंस का प्रतीक है। हालांकि उसके जीवन और विचार के बारे में बहुत कम लोग ही जानते हैं, किंतु उसके 'मिनिट', जिसके लिए उसका अपयश है, उसे उसकी संपूर्णता में बहुत ही कम पढ़ा गया है। होना तो यह चाहिए कि उसको और उसके शब्दों को उन्हीं संदर्भों में देखा जाए।

यह उपयोगी होगा कि उस समय को देखा जाए, जिसने मैकॉले को जन्म दिया। जब मैकॉले वयस्क हुआ, तो उसने उस समय के इंग्लैंड के सामाजिक और राजनीतिक बदलाव को देखा। यह फ्रांसिसी क्रांति की तरह खूनी और अकस्मात नहीं था, किन्तु यहां भी पुराने राजनीतिक तंत्र को उखाड़कर फेंक दिया गया था। मध्य युगीन इंग्लैंड राजाओं द्वारा शासित था, जिन्हें शक्तिशाली जमीदारों, कुलीनतंत्र का समर्थन प्राप्त था। राजाओं और उनके शक्ति सम्पन्न समर्थकों के बीच संघर्ष में क्रमिक रूप से कुलीनों की काउंसिल का विकास हुआ, जिसे राजा को सलाह देने का अधिकार था। यह हाउस ऑफ लॉर्ड्स और संसद का उद्भव है, जो शक्ति संतुलन के बदलाव की अभिव्यक्ति है, यह राजा से अधिक लॉर्ड्स के पक्ष में था। दूसरा प्रमुख बदलाव, 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में व्यापारी और उत्पादक वर्ग के उदय से हुआ, जो सत्ता में अपनी साझेदारी की मांग करते थे। हाउस ऑफ कॉमंस एक ऐसी जगह के रूप में अस्तित्व में आया, जहां गैर–कुलीन एक साथ आकर ब्रिटिश सरकार के लिए नीतियां बनाना चाहते थे। यद्यपि मत देने का अधिकार, अत्यधिक सम्पन्न और जन्मजात कुलीनों तक ही सीमित था।

मैकॉले एक व्हिग था। व्हिग राजनेताओं का एक लचीला गठबंधन था, जो इंग्लैंड में प्रजातंत्र के अधिक विस्तार के समर्थन में था। यह गठबंधन मध्यम वर्ग को भी मताधिकार देना चाहता था। व्हिग, विवेकवादियों और उदारवादियों के आदर्शों से प्रभावित थे, वे बाजार की रचनात्मक भूमिका में विश्वास रखते थे और व्यक्तिगत संपत्ति का तथा व्यक्ति को अधिकार देना चाहते थे। इनके भूस्वामियों एवं सामंती अभिजनों की पुरानी आस्थाओं के बारे में गहरे मतभेद थे। तर्क और विज्ञान व्हिगों में लोकप्रिय थे और वे पुनर्जागरण को इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण मील के पत्थर के रूप में देखते थे। उनकी मान्यता थी कि इसने कई प्रकार के अंधविश्वासों और कर्मकांडों से मुक्ति दिलवाई। राजशाही की दैवीय उत्पत्ति की मान्यता और सुविधा प्राप्ति के वंशानुगत आधार, इनकी आलोचना के प्रमुख निशाने थे। क्षमता और योग्यता समाज के पदों को प्राप्त करने का आधार होना चाहिए न कि जन्म। इनकी विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी था कि किसी भी प्रकार का सामाजिक भेदभाव नहीं होना चाहिए। वे इसी आधार पर इंग्लैंड में कैथोलिकों को सजा देने का विरोध भी कर रहे थे। थॉमस मैकॉले के पिता जेकरी मैकॉले दास प्रथा उन्मूलन के सशक्त प्रचारक थे। इंग्लैंड में दास प्रथा को समाप्त करने का कार्य लिंकन से बहुत पहले आंशिक रूप से व्हिग्स के प्रभाव में शुरू हो गया था।

मैकॉले उस वातावरण में बड़ा हुआ, जहां उदारवादी व्हिग विचार और व्यक्तित्वों की भरमार थी। पढ़ाकू झुकाव होने के कारण, मैकॉले की ख्याति जल्दी ही एक श्रेष्ठ निबंधकार के रूप में हो गई और यह रुचिकर था कि उसे इंग्लैंड में ऐतिहासिक लेखन

के लिए जाना जाता है। वह विशेषरूप से यूरोपीय शास्त्रीय साहित्य के प्रति रुचिशील था। वह ग्रीक, लैटिन, स्पेनिश और इतालवी की पुस्तकें, अपनी अंग्रेजी भाषा के साथ बहुत चाव से पढ़ता था। भारत आने से पहले, मैकॉले इंग्लैंड में ऐसे पद पर था, जहां वह भारतीय राजाओं और ब्रिटिशों के बीच राजनीतिक जोड़तोड़ के बारे में कुछ जानता था। भारत के पक्ष में अपनी राय बनाने के लिए उसके पास बहुत कम समय था। जब वह चार वर्षों के लिए भारत आया, तो उसकी आस्था ब्रिटिश और शास्त्रीय यूरोपीय संस्कृति के प्रति थी। उसकी यह आस्था भारत ही नहीं वरन् शेष दुनिया के बारे में भी यही थी। वह अपने साथ बड़ी संख्या में पुस्तकें लाया था और अपने घर व मित्रों से और पुस्तकें भेजने के लिए लिखता था। किन्तु लगता है कि भारतीय लेखन के बारे में उसकी जानकारी सतही स्तर की ही थी।

मैकॉले अपनी गवर्नर जनरल की सर्वोच्च समिति में सदस्य के रूप में नियुक्ति के पश्चात् 1834 में भारत आया। विलियम बेंटिक उस समय गवर्नर जनरल थे। उसने अपने पत्रों में यह स्वीकार किया है कि उसे इस पद को प्राप्त करने से काफी ज्यादा वेतन मिलेगा, जो उसके पिता के सारे कर्जों को चुकता करने में उसकी मदद करेगा। भारत पहुंचने के बाद उच्च शिक्षित और सुसंस्कृत मैकॉले ने बेंटिक के साथ अच्छे संबंध बना लिए और शीघ्र ही उसे लोक शिक्षण की जनरल समिति का और साथ ही साथ भारत में दंड प्रक्रिया बनाने वाली समिति का अध्यक्ष बना दिया गया। यह समिति पुरानी कानूनी व्यवस्था को बदलने के लिए बनी थी।

अब तक ब्रिटिशर्स ने भारतीय शिक्षा को अपनी ही रफ्तार से और अपने ही मार्ग पर चलने दिया। कुछ अंग्रेजों ने थोड़े प्रयास वैसे ही किए जैसे कि भारत के राजा और जमींदार कर रहे थे। जैसे कोई मदरसा

एक स्थान पर, तो संस्कृत कॉलेज दूसरे स्थान पर खोल दिया। शुरुआती दौर में पाठ्यक्रम में बदलाव, सार्वजनिक शिक्षा के फैलाव या उच्च शिक्षा को अधिक लोगों को उपलब्ध करवाने में सरकार की अधिक रुचि नहीं थी। किन्तु जब मैकॉले यहां आया, तब कुछ शक्तियां एक जुट होने लगीं और यह आवाज उठने लगी कि भारत में ऐसी शिक्षा की शुरुआत हो, जो स्वभाव में अधिक इंग्लिश हो। इसके पक्ष में तीन तरह की आवाजें थीं (1) वे मिशिनरी, जो भारतीयों को ईसाइयत में बदलना चाहते थे ताकि ''उनकी आत्मा की रक्षा हो सके।'' (2) स्वतंत्र कारोबारी, जिनका विश्वास था कि अंग्रेजी शिक्षा ब्रिटिश माल में रुचि और मांग को प्रोत्साहित करेगी

(3) उदारवादी, उपयोगितावादी और व्हिग्स जो यह मानते थे कि भारत सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा है और उससे मुक्ति का तरीका यह है कि उसे विज्ञान, विवेक और मानववाद के आमने–सामने किया जाए। एक विचार यह भी था कि शिक्षित ब्रिटिश को भारत में काम के लिए लाने में बड़ी तनख्वाह देनी पड़ती है, जबकि शिक्षित भारतीय बहुत ही कम राशि में काम करने को तैयार हो जाएंगे।

मैकॉले ने जनरल समिति को उन पांच सदस्यों के तीखे विरोध के कारण दुविधा में पाया, जो भारतीय शास्त्रीय भाषाओं और ज्ञान के पक्षघर थे और दूसरी ओर इतनी ही संख्या में सदस्य थे, जो ब्रिटिश शिक्षा के समर्थक थे। गवर्नर जनरल को इसमें अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना था, क्योंकि शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए एक लाख रुपए की अनुमति जारी हो गई थी और उसे उन्हें कहां खर्च करना है, यह निर्णय करना था। अंततः जब 2 फरवरी, 1835 को मैकॉले ने अपना प्रसिद्ध 'मिनिट' या 'टीप' लिखी, जो समिति के अध्यक्ष की हैसियत से नहीं वरन सामान्य सदस्य के रूप में थी। इस समिति में कई कठोर प्रस्ताव अंतिम निर्णय के लिए आए हुए थे।

मैकॉले के मिनिट की शुरुआत, इजिप्ट के साथ समानता दिखाते हुए हुई, जो एक जमाने में महान सभ्यताओं में से एक थी, किन्तु बाद में वह पतन की गर्त में चली गई। मैकॉले ने कहा, यह तो प्रस्तावित नहीं किया जा सकता कि इजिप्ट के युवाओं की शिक्षा को इन्हीं शिकायतों के दौर में रखा जाए। इसके विपरीत उसने लिखा कि यह सलाह दी जाती सकती है कि उन्हें अंग्रेजी और फ्रैंच में विज्ञान की शिक्षा दी जाए, जिसकी कुंजी ये दो भाषाएं हैं। मैकॉले का मानना था कि भारत के लिए भी यही मार्ग है, उसने रूस का उदाहरण दिया, जो बहुत जल्दी ही उच्च बौद्धिक वर्ग में बदल गया, क्योंकि वह फ्रैंच और अंग्रेजी सीख कर सबसे अधिक विकसित ज्ञान से रु–ब–रु हुआ। मैकॉले ने यह उदाहरण भी दिया कि कैसे ग्रीस और रोमन के शास्त्रीय अध्ययन ने यूरोपीय संस्कृति को ऊर्जावान बनाया।

मैकॉले का विश्वास था कि भारतीय संस्कृति में साहित्य को उच्च स्थान प्राप्त था, किंतु वह यह बात मानने के लिए तैयार नहीं था कि वह यूरोपीय साहित्य के समकक्ष है। भारतीय विज्ञान, उसके अनुसार अनुपयोगी और हास्यापद है क्योंकि यहां इतिहास में अनेक राजा तीस फीट लंबे और हजारों वर्ष शासन करने वाले थे एवं भूगोल में शीरे और मक्खन के समुद्र थे।

उसने कहा, ऐसा नहीं था कि भारतीय अरबी और संस्कृत पढ़ने की चाह रखते थे। शिक्षण संस्थानों में शास्त्रीय भाषाओं को पढ़ने वाले विद्यार्थी सरकार से यह सिफारिश करते थे कि वह उन्हें नौकरी दे, अन्यथा वे अपना जीवनयापन नहीं कर पाएंगे। इसके विपरीत उसने कहा, कि बहुत से लोग अंग्रेजी सीखने वाली किताबें खरीद रहे हैं और अधिक से अधिक अंग्रेजी में शिक्षा की मांग कर रहे हैं।

उसने दृढ़ता के साथ यह सिफारिश की, कि संस्कृत और अरबी शिक्षा को अब और प्रोत्साहित न किया जाए। अब से अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम बना दिया जाना चाहिए। ऐसा नहीं था कि वह हर एक के लिए अंग्रेजी में ही शिक्षा चाहता था वरन् वह कम संख्या में लोगों को इस माध्यम से पढ़वाने के पक्ष में था और ये ही लोग आगे चलकर स्थानीय लोगों को संपन्न बनाएंगे। अंग्रेजी में शिक्षित ये लोग ही औपनिवेशिक शासकों के मध्यस्थ होंगे। 'रंग और रक्त में भारतीय, किंतु स्वाद, राय, नैतिकता और बौद्धिकता में अंग्रेज।'

विलियम बेंटिक ने मैकॉले की सिफारिशों को जल्दी ही अपना समर्थन दे दिया और मुद्दा तय

हो गया। इसके पश्चात् जो सिद्धांत अपनाया गया, वह यह था कि भारत की ज्ञान परंपरा और भारतीय भाषाओं को पीछे धकेल दिया जाए और ज्ञान की अंग्रेजी पद्धति की अनुपालना की जाए। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही हो, तो अधिक श्रेष्ठ रहेगा।

सामान्यतया, यह सुना जाता है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा के सभी दोषों के लिए मैकॉले ही जिम्मेदार है। लेकिन संम्भव है कि यह यश उसकी भूमिका से अधिक है। कोई अकेला व्यक्ति अकेले ही इतिहास के रुख को नहीं बदल सकता है। मैकॉले ने ऐसा बहुत कम कहा, जो भारत में ब्रिटिश शासकों ने न कहा हो। बेंटिक के भारत छोड़ने के बाद भी, लम्बे समय तक साफतौर पर इस नीति में कोई बदलाव नजर नहीं आया। यह भी नहीं था कि भारत को उपनिवेश बनाने के लिए ब्रिटिश शिक्षा का तेजी से विस्तार हुआ। मैकॉले के नेतृत्व में समिति ने, उन स्कूलों को प्रोत्साहित किया, जो मूलरूप से इंग्लैंड में संचालित हो रहे स्कूलों पर आधारित थे। परंतु उनकी संख्या बहुत ही कम थीं। इसके बाद पहले विश्वविद्यालय की स्थापना में बीस वर्ष लगे और एक पीढ़ी बाद, ब्रिटिश लोगों ने जन सामान्य को शिक्षा देने की बात कही। भारतीय उपनिवेशक शिक्षा के विस्तार से या तो लोगों को दास बनाते या फिर उदात्त ग्रीक दार्शनिक। इसके लिए उनको धन, की आवश्यकता थी और वे इसे देशजों पर खर्च नहीं करना चाहते थे। इस बीच, 1838 में बहुत अधिक धन, जो उसने अपने वेतन से बचाया था, को लेकर खुद मैकॉले भारत से चला गया।

बाद में भारतीय शिक्षा में हुए कई विकास और अन्य औपनिवेशिक देशों में हुए विकास में बहुत समान विशेषताएं थीं। सभी में स्थानीय सामाजिक विभाजनों के प्रति एक उपेक्षा का भाव था। उनकी शिक्षा पर 'खर्च करने में अकाल' था और ब्रिटिशर्स की प्राथमिकता उनके अपने ज्ञान के प्रति थी, न कि स्थानीय सांस्कृतिक ज्ञान के। यह बतलाना कठिन होगा कि भारतीय दंड व्यवस्था के प्रति मैकॉले का क्या महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। संभवतः उसने अंग्रेजी को बढ़ाने में मदद दी हो न कि हिंदी को। हेनरी थोबे प्रिंसेप, जो सर्वोच्च काउंसिल के सदस्य थे, का तर्क था कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से भारतीयों को अंग्रेजी और यूरोपीय संस्कृतियों से परिचित कराया जाए। प्रिंसेप का दृष्टिकोण शास्त्रीय भाषाओं में ही भारतीय संस्कृतियों पर बहस और उनकी आलोचना करना था। इसके फलस्वरूप ब्रिटिश शिक्षा के उत्पाद जनसामान्य से अलग नहीं होते, ऐसा उनका तर्क था।

हमारी शिक्षा की बहुत सारी कमियों को अन्य स्रोतों से भी खोजा जा सकता है, जिसे प्रिंसेप के पूर्वाभास में देखा जा सका है। मैकॉले जिसके लिए जिम्मेदार है, वह है उसने अपने अनचाहे में ही, उभरते हुए भारतीय बौद्धिक वर्ग और देश के अन्य लोगों के बीच की दूरी को बढ़ाया है। इसी दूरी ने जो विभिन्न शिक्षित समूह थे, को एक–दूसरे पर मैकॉले की अवैध संतान होने का आरोप लगाते हुए पाया गया। जो बात एक कहता था वह दूसरे को पसंद नहीं आती थी। बहस की भाषा और समझ की पृष्ठभूमि ने बौद्धिक वर्ग के औचित्य पर विभेद को जन्म दिया, जिससे वह कभी भी देशज संस्कृति को अपना निकट और अंतरंग भाग है, कह सका। इसका निस्संदेह हमारे देश के विकास पर गंभीर प्रभाव पड़ा और कई स्वरूपों में आज भी लगातार पड़ रहा है।

अमन मदान : अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी, बैंगलुरू में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

अनुवाद : अरुण चतुर्वेदी : पूर्व प्रोफेसर, मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर। वर्तमान में विद्या भवन में कार्यरत हैं।

अंग्रेजी से फायदा कम, नुकसान ज्यादा

वेद प्रताप वैदिक

इस समय देश में एक पुरानी बहस फिर चल पड़ी है। अंग्रेजी से देश को फायदा हुआ है या नुकसान? मेरा निवेदन है कि अंग्रेजी से फायदा कम हुआ और नुकसान ज्यादा। किसी भी नई भाषा को सीखने से फायदा ही होता है। यदि वह भाषा विदेशी हो तो और ज्यादा फायदा हो सकता है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, कूटनीति, व्यवसाय, ज्ञान–विज्ञान और संपर्क की नई खिड़कियां खुलती हैं। भारत के तीन–चार प्रतिशत लोग कामचलाऊ अंग्रेजी जानते हैं। इसका उन्हें फायदा जरूर मिला है। नौकरियों में उनका बोलबाला है। व्यापार व समाज में उनका वर्चस्व है। वे भारत के नीति–निर्माता व भाग्य–विधाता हैं। 125 करोड़ के इस देश को ये ही चार–पांच करोड़ चला रहे हैं। अंग्रेजीदां लोग प्रायः शहरों में रहते हैं, तीन–चार हजार कैलोरी का स्वादिष्ट और पोषक भोजन रोज करते हैं। साफ–सुथरे चकाचक वस्त्रों और आभूषणों से लदे–फदे रहते हैं। उन्हें चिकित्सा, मनोरंजन और सैर–सपाटे की सभी सुविधाएं उपलब्ध रहती हैं। उनके बच्चे अंग्रेजी माध्यम के महंगे स्कूलों में पढ़ते हैं।

तो क्या यह भारत का नुकसान है? इस प्रश्न का उत्तर यह प्रश्न है कि गिलास कितना भरा है? एक गिलास में 125 ग्राम पानी आ सकता है। यदि उसमें सिर्फ पांच ग्राम पानी भरा हो तो आप इसे क्या कहेंगे? वह भरा या खाली है? 125 करोड़ के देश में सिर्फ चार–पांच करोड़ लोगों के पास सारी सुविधाएं, सारी समृद्धि, सारे अधिकार, सारी शक्तियां जमा हो जाएं तो इसे आप क्या कहेंगे? क्या यह सारे देश का फायदा है? नहीं, यह उस छोटे से चालाक भद्रलोक का फायदा है, जिसने अंग्रेजी का जादू–टोना चलाकर भारत में अपने स्वार्थों का तिलिस्म खड़ा कर लिया है। अंग्रेजी को शिक्षा और नौकरियों में अनिवार्य बनाकर उसने करोड़ों ग्रामीण, गरीब, पिछड़ों, दलितों, आदिवासियों और महिलाओं के संपन्नता के सपने को चूर–चूर कर दिया है।

मैं अंग्रेजी सीखने या इस्तेमाल करने का विरोधी नहीं हूं। किसी भी विदेशी भाषा को सीखने का विरोध कोई मूर्ख ही कर सकता है, लेकिन देश के लोग अपनी भाषा सीखें या न सीखें, उन भाषाओं के जरिए उनको नौकरियां या काम–काज मिलें या न मिलें, परंतु कायदा यह है कि उन्हें अंग्रेजी सीखनी ही होगी, वरना वे शिक्षित नहीं माने जाएंगे और उन्हें कोई ऊंचा काम–काज या नौकरियां नहीं मिलेंगी, उसे आप क्या कहेंगे? क्या यह महामूर्खता नहीं है? इस नीति का आज कोई भी दल या नेता डंके के चोट पर विरोध करता दिखाई नहीं देता। हमारे नेताओं को यह समझ ही नहीं है कि किसी आधुनिक, समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण में स्वभाषा की भूमिका क्या होती है।

इस समझ के अभाव में ही आजादी के 65 वर्षों बाद भी हमारी शिक्षा, नौकरशाही, राजकाज, खबरपालिका, न्यायपालिका और यहां तक कि संसद में भी अंग्रेजी का बोलबाला है। अंग्रेजी के इस वर्चस्व ने देश का भयंकर नुकसान किया है।

भारत के अभाव, अज्ञान, अन्याय, असमानता और अत्याचार के कई कारणों में से एक अत्यंत खतरनाक कारण अंग्रेजी भी है। यह अत्यंत खतरनाक इसलिए है कि यह अदृश्य है। यह आतंकवादियों के बम–गोलों की तरह तहलका नहीं मचाती। यह मीठे जहर की तरह भारत की नसों में फैलती जा रही है। यदि हम अब भी सावधान नहीं हुए तो 21वीं सदी के भारत को यह खोखला किए बिना नहीं छोड़ेगी।

अंग्रेजी के वर्चस्व के कारण, आजाद भारत को सबसे पहला नुकसान तो यह हुआ कि वह दुनिया की अनेक महान भाषाओं जैसे फ्रांसीसी, जर्मन, हिस्पानी, चीनी, जापानी, रूसी, स्वाहिली आदि से कट गया। दुनिया के सारे ज्ञान–विज्ञान का ठेका अंग्रेजी को दे दिया और उसका पिछलग्गू बन गया। उसकी दुनिया सिकुड़ गई। क्या कोई सिकुड़े हुए पिछलग्गू देश महाशक्ति बने हैं? अपनी भाषा के दरवाजे से बने हैं और उन्होंने एक नहीं, विदेशी भाषाओं की अनेक खिड़कियां खोल रखी हैं।

दूसरा नुकसान अंग्रेजी ने यह किया कि उसने देश की महान भाषाओं को एक–दूसरे से दूर कर दिया। देश के स्वार्थी भद्रलोक ने उसे राष्ट्रीय संपर्क भाषा घोषित कर दिया। यह देश की बुनियादी सांस्कृतिक एकता पर गंभीर प्रहार है।

तीसरा, नुकसान यह कि अंग्रेजी के कारण भारत में आज तक, अशिक्षा का साम्राज्य फैला हुआ है। सबसे ज्यादा बच्चे अंग्रेजी में फेल होते हैं। हर साल 22 करोड़ बच्चे प्राथमिक शालाओं में पढ़ते हैं लेकिन अंग्रेजी की अनिवार्यता के कारण 40 लाख से भी कम स्नातक बनते हैं। जर्मनी, फ्रांस, जापान, इंग्लैंड, ईरान आदि देशों में पढ़ाई स्वभाषा में होती है इसलिए वहां शत–प्रतिशत साक्षरता है। चौथा, अंग्रेजी के कारण भारत दो टुकड़ों–भारत और इंडिया में बंटा हुआ है। अंग्रेजीदां इंडिया का नागरिक एक हजार रुपए रोज पर गुजारा कर रहा है और भारत का नागरिक सिर्फ 27 व 33 रुपए रोज पर। यदि अंग्रेजी अनिवार्य न हो तो गरीब और ग्रामीण बच्चों को भी अवसरों की समानता मिलेगी।

पांचवा, भारतीय लोकतंत्र इसलिए गैर जवाबदेह बन गया है कि उसके कानून, उसकी नीतियां, उसका क्रियान्वयन सब कुछ अंग्रेजी में होता है। जनता के चुने हुए सांसद और विधायक सदनों में अंग्रेजी बोलते हैं। गांधीजी ने कहा था कि आजादी के छह माह बाद भी जो ऐसा करेगा, उसे में गिरफ्तार करवा दूंगा।

छठा, ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में भारत नकलची बना हुआ है। यहां मौलिक शोध करने की बजाय छात्र अंग्रेजी का रट्टा लगाने में अपनी ताकत नष्ट करता है। पश्चिम की नकल करके हम उन्नत जरूर हुए हैं लेकिन उनकी तरह हम भी स्वभाषा में काम करते तो शायद उनसे आगे निकल जाते।

सातवां, हमारी अदालतों में तीन–चार करोड़ मुकदमें बरसों से क्यों लटके हुए हैं? मूल कारण अंग्रेजी ही है। कानून अंग्रेजी में, बहस अंग्रेजी में और फैसला भी अंग्रेजी में। सबकुछ आम आदमी के सिर पर से निकल जाता है। यदि आजाद भारत अंग्रेजी के एकाधिकार को भंग करता और कई विदेशी भाषाओं को सम्मान देता तो आज हमारा व्यापार कम से कम दस गुना होता। स्वभाषाओं को उचित स्थान मिलता तो हम सचमुच आधुनिक, शक्तिशाली, समृद्ध, समतामूलक और सच्चे लोकतांत्रिक राष्ट्र बनते। जितना नुकसान अब तक हुआ, उससे कम होता।

वेद प्रताप वैदिक : भारतीय विदेश नीति परिषद् के अध्यक्ष।
साभार : दैनिक भास्कर, उदयपुर, 27 जुलाई 2013

स्कूल की चार्टगाथा

कालू राम शर्मा

इस आलेख में लेखक स्कूली शिक्षा में सीखने–सिखाने की सामग्री के बारे में बच्चों एवं शिक्षकों के द्वारा तैयार की जानेवाली सामग्री के संदर्भ में अपने अनुभवों व अवलोकनों के माध्यम से यह तथ्य रेखांकित करना चाहता है कि इसका पढ़ने–पढ़ाने में कोई खास उपयोग या फायदा नहीं हो पा रहा है।

हाल ही शहर के एक स्कूल में जाने का मौका मिला। स्कूल का भवन बढ़िया–सा लग रहा था। अन्य सुविधाएं भी ठीक थीं। स्कूल के बरामदे की दीवारों पर एक नज़र डाली तो कई तरह के रंग–बिरंगे चार्ट्स लगे पाए गए। जब कमरे में गए तो वहां की सारी दीवारें भी चार्ट्स से अटी पड़ी थीं। सरसरी तौर पर देखने पर दृश्य काफी लुभावना लग रहा था। चहलकदमी कर रहे बच्चों से पूछा तो वे बताने लगे कि ये सभी चार्ट्स उनके शिक्षक ने उनसे बनवाकर लगवाए हैं। बच्चों के चेहरों पर गर्वमय मुस्कान थी। जब हम चार्ट्स देख रहे थे तो बच्चों व शिक्षकों में एक प्रकार के आत्मसंतोष के दर्शन हो रहे थे। चार्ट्स जो बनाए गए थे, वे पेंटिंग के हिसाब से लाजवाब लग रहे थे। बच्चों ने बड़ी मेहनत से जो बनाए थे! मगर जब चार्ट–दर–चार्ट बारीकी से देखने लगा तो समझ में आया कि इन चार्ट्स में शिक्षा की दकियानूसी विचारधारा के दर्शन होते हैं। दीवारों पर सजे इन चार्ट्स ने कई सारे सवालों को जन्म दिया।

दरअसल, हमारे यहां स्कूल चाहे सरकारी हों या अंग्रेजी का राग अलापने वाले निजी स्कूल, हर कहीं कमोबेश इसी प्रकार के चार्ट्स से दीवारें अटी हुई मिलती हैं। अधिकाशंतः भाषा, विज्ञान, भूगोल, पर्यावरण अध्ययन आदि विषयों पर बनाए गए चार्ट्स तथाकथित पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान के ईर्द–गिर्द ही होते हैं। जिस स्कूल में मैं गया था, वहां भी इसी प्रकार के चार्ट्स चिपके हुए थे जिनका अपने संदर्भ से कोसों दूर का रिश्ता नहीं था। कुछ चार्ट्स बाजार से लाकर भी लगाए गए थे। इनमें राज्य, राष्ट्रीय फूल, पशु, पक्षियों के रंगीन चित्र थे। कुछ चार्ट्स वर्णमाला, बारहखड़ी, गिनती, पहाड़े, फूलों, फलों तथा शरीर के बाहरी व आंतरिक अंगों आदि के लगे थे।

बहरहाल, इन चित्रों को देखने पर एक सवाल जेहन में आया कि आखिर चार्ट्स के विषय कैसे चुने जाते होंगे? जब मैंने शिक्षकों से बातचीत की तो वे बताने लगे कि किताबों में से ही कुछ चित्र, परिभाषाएं, सूत्र, समीकरण या कोटेशंस बच्चे बनाते हैं। उन्होंने बताया कि हमें टीएलएम के नाम कुछ राशि मिलती है, उसमें से कुछ तो रेडीमेड चार्ट्स बाजार से खरीद लिए जाते हैं। कुछ ड्राइंग शीट्स व स्केच पेन वगैरह खरीद लिए जाते हैं। इन शीट्स का इस्तेमाल बच्चे करते हैं। उन्हें विषयों से संबंधित चित्र बनाने के लिए दिया जाता है। जब चार्ट्स बन जाते हैं तो उन्हें दीवारों पर चस्पा कर दिया जाता है।

दरअसल, चार्ट्स का शिक्षण में इस्तेमाल करना अपने आप में एक दिलचस्प प्रक्रिया हो सकती है। मगर साफतौर पर समझ में आता है कि इन चार्ट्स में जो भी बनाया जाता है वह शिक्षा के प्रगतिशील विचारों

से कतई मेल नहीं खाता। जैसे कि प्राथमिक स्कूलों की दीवारों पर लगे चार्ट्स अमूमन वर्णमाला आधारित भाषा शिक्षण की पैरवी करते हैं। इन चार्ट्स में वर्णमाला के अक्षर व तथाकथित अति सरल (बिना मात्रा वाले) शब्द लिखे होते हैं जिनका बच्चों के संदर्भ से नाता–रिश्ता ही नहीं होता। कहीं–कहीं कोई बेजान सी कविता या सूक्ति वाक्य वगैरह लिखे चार्ट्स होते हैं। इतना ही नहीं कक्षाओं में वर्णमाला का दोहराव होता दिखता है। बच्चे अ आ इ ई... क का कि की... के कुचक्र में उलझे होते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया के चलते बच्चे पांचवीं तक या आठवीं तक आते–आते भी ठीक से पढ़ना–लिखना नहीं सीख पाते हैं।

एक और चीज़ का जिक्र करना प्रासंगिक होगा। चार्ट्स का आज एक बाजार पैदा हो चुका है। अगर हम उन बाजारी चार्ट्स पर नज़र डालें तो पाएंगे कि ये भी शिक्षा की दकियानूसी विचाराधाराओं की वकालत करते हैं। इनमें भी वही कुछ फलों, सब्जियों, वाहनों, पशुओं, बीजों, और माध्यमिक कक्षाओं के स्तर पर विज्ञान के मॉडल, फूलों–पत्तियों, शरीर के अंगों वगैरह के चित्र होते हैं। और भी बहुत कुछ है इस बाजार में, जिसमें स्कूलों में पढ़ाए जाने वाले विषयों की कुंजियों–गाइडों के साथ–साथ डीएड. व बीएड, एमएड. की कुंजियां–गाइडें आदि शामिल हैं।

कहा जा सकता है कि शिक्षा बाजार में तब्दील हो चुकी है। प्राथमिक व उच्च प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के लिए जो चार्ट्स बाजार में मिलते हैं उनमें से एक है मानव शरीर के अंगों के चार्ट्स, जिनमें अंगों के नाम लिखे होते हैं। सवाल इस बात का है कि क्या बच्चों को अपने ही शरीर के अंगों के नाम पता नहीं हैं? मैंने कई कक्षाओं में अवलोकन किया कि इन चार्ट्स की मदद लेते हुए बच्चों से उनके अंगों के नामों को रटाया जाता है। तो कुल मिलाकर बाजार के सामने शिक्षा ऐसी मांग नहीं रख पाई जो प्रगतिशील विचाराधाराओं पर आधारित चार्ट्स बनाए। इसके उलट शिक्षा व्यवस्था पर बाजार दकियानूसी विचारों को थोपता रहता है और इस तरह से दकियानूसी विचारधारा निरंतर रूप से अपनी जड़ें फैलाती रहती है।

अगर हम एनसीएफ–2005 पर नजर डालें तो कहा गया है कि बच्चे स्कूल में अपने साथ अनुभव व ज्ञान लेकर आते हैं। अगर इस बात को लेकर आगे बढ़ें तो समझ में आता है कि बच्चों को क्या अपने ही शरीर के अंगों, हाथ, पैर, नाक, आंख आदि का ज्ञान नहीं होता? जाहिर है कि प्रशिक्षण संस्थानों से लगाकर स्कूलों तक में सीखने–सिखाने को लेकर एक प्रकार की कृत्रिमता व्याप्त है। स्कूलों में शिक्षक–शिक्षिकाएं बच्चों को शरीर के अंगों के नाम रटवाने में सारी ऊर्जा नष्ट कर देते हैं। यही हाल है प्राथमिक स्तर पर बच्चों के पढ़ने की प्रक्रियाओं का। दीवारों पर वर्णमाला, बाराखड़ी, गिनती वगैरह के चार्ट्स बच्चों के अनुभवों व पूर्व ज्ञान को ठेंगा दिखाते लगते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में असल सीखना दरकिनार रह जाता है।

आजकल टीएलएम का बड़ा बोल–बाला है। दीवारों पर लगे ये चार्ट्स टीएलएम का ही नतीजा है। टीएलएम का शब्दशः अर्थ होता है टिचिंग–लर्निंग मटेरियल। मगर टीएलएम को चार्ट्स व थर्मोकाल से मॉडल बनाने भर तक सीमित कर दिया गया है। इस प्रकार का टीएलएम भी दकियानूसी विचारधाराओं को प्रश्रय देने का ही काम करता है। मिसाल के तौर पर स्कूलों में पर्यावरण अध्ययन में महज पेड़–पौधों, फूलों, बीजों, जंतुओं आदि के चमक–दमक वाले चार्ट्स को शिक्षण का हिस्सा बनाया जाता है। सरसरी तौर पर यह देखने में अच्छा लगता है। मगर यह तो पर्यावरण अध्ययन की तासीर के खिलाफ है। जबकि बच्चों को अपने परिवेश के पेड़–पौधों व जीव–जंतुओं के अवलोकन करने व अनुभव अर्जित करने के अवसर न के बराबर मिलते हैं। पर्यावरण अध्ययन के शिक्षण में अपने आसपास के परिवेश से बेहतर टीएलएम और क्या हो सकता है।

यही हालात माध्यमिक स्तर पर विज्ञान में है। विज्ञान में बच्चे जो चार्ट्स बनाते हैं वे अधिकाशंतः अपनी

पाठ्यपुस्तक के चित्र होते हैं। मैंने स्कूल की दीवारों पर चिपके चार्ट्स में देखा कि जल चक्र, वर्षा चक्र, भोजन शृंखला के चित्र बने हैं। जब बच्चों से पूछा तो वे यांत्रिकी तौर पर तो बता पाते हैं, मगर असल में जलचक्र... आदि के बारे में वे मौन रहते हैं। भोजन शृंखला के चाट्र्स में उन्हीं चित्रों को दर्शाया जाता है जो उनकी किताबों में होते हैं। बच्चों को इस प्रकार के चार्ट्स बनाने की कवायद के अवसर न्यूनतम ही मिलते हैं कि वे अपने अनुभवों को शामिल करते हुए भोजन शृंखला के चित्र बनाएं। इसी तरह से नाइट्रोजन चक्र, कार्बन डाई आक्साइड चक्र आदि के चित्रों को पाठ्यपुस्तकों से हुबहू चाट्र्स पर उतार लिया जाता है। मगर नाइट्रोजन व कार्बन डाइ आक्साइड की समझ कहीं से कहीं तक परिलक्षित नहीं होती। प्रयोगशाला में गैस बनाने के चित्र होते हैं मगर बच्चों ने कभी भी कोई गैस बनाकर नहीं देखी। दूसरी बात यह कि चित्रों में गैस बनाने के उपकरणों को दर्शाया जाता है, वे अधिकांश शिक्षकों के संदर्भ से भी मेल नहीं खाते।

जब मैं और गहराई से सोचने लगा तो मुझे डाइट्स, याने कि जिला शिक्षा प्रशिक्षण संस्थानों व शिक्षा महाविद्यालयों की याद ताज़ा हो गई। ये संस्थान शिक्षक बनाने का कार्य करते हैं जो हकीकत में स्कूलों में शिक्षण कार्य करते हैं। हमारे यहां अमूमन प्रत्येक जिले में डाइट होती है जो जिले भर में स्कूली शिक्षा में सेवापूर्व व सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य करती है। प्राथमिक स्कूलों में शिक्षक बनने के लिए जो योग्यता चाहिए उसमें डीएड (डिप्लोमा इन एज्यूकेशन) आवश्यक है। इसके अलावा जिले में जो शिक्षक शिक्षण करते हैं उनके लिए विषयगत व अन्य शैक्षिक व शिक्षणेतर मसलों पर प्रशिक्षण की जिम्मेदारी डाइट्स की होती है। इसी प्रकार, माध्यमिक व उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के संदर्भ में बीएड. व एमएड. की डिग्री शिक्षा महाविद्यालय देते हैं। कुल मिलाकर डीएड, बीएड वगैरह की डिग्री प्राप्त कर शिक्षक बनने के मार्ग तो प्रशस्त हो जाते हैं मगर वे उसी परंपरा को अपनाते हैं जो उनके साथ प्रशिक्षण के दौरान अपनाई गई है।

टीएलएम बनाम बच्चों का सृजन

यहां मैं उल्लेख करना चाहूंगा एक उदाहरण के माध्यम से। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के अंतर्गत शिक्षक जब प्रशिक्षण में आते तो उन्हें स्वतंत्र ढंग से सोचने व वह सब कुछ करने के अवसर दिए जाते जो उन्हें अपने स्कूल में बच्चों के साथ करना होता। शिक्षकों को सवाल करने के पूरे अवसर मिलते। प्रशिक्षण के दौरान वे तरह–तरह के चाट्र्स बनाते व प्रशिक्षण हाल में लगाते व उन पर विमर्श करते। ये चाट्र्स बाल विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों के चित्रों की नकल नहीं होते बल्कि जो उन्होंने समझा व किया उस पर आधारित होते। साथ ही उन चार्ट्स में संदर्भ साफतौर पर झलकता। कक्षा का माहौल जीवंत हो उठता।

जब शिक्षक अपनी कक्षाओं में जाते तो प्रशिक्षण के दौरान जो भी आत्मसात किया होता वह बच्चों की कक्षाओं में उतरता। फूलों के अध्ययन के दौरान बच्चे तरह–तरह के फूलों को खोलने का अभ्यास करते व उन फूलों को चाट्र्स पर या तो सुईं से सिलकर या चिपकाकर चाट्र्स को दीवारों पर लगा देते। पत्तियों के अध्ययन के दौरान वे तरह–तरह की पत्तियों को अपने परिवेश से तोड़कर लाते व उन्हें सुखाकर चाट्र्स पर चिपकाते व दीवारों पर लगाते। होशंगाबाद विज्ञान की कक्षाओं के कुछ और उदाहरण देखते हैं। कक्षा में दूरी नापने का अध्याय चल रहा था। सभी बच्चों ने अपनी कक्षा की लंबाई को मापा व उसका चार्ट बनाया। इसमें उन सभी आंकड़ों को लिखा गया है। जब सामूहिक चर्चा होती तो चाट्र्स पर बच्चों द्वारा ली गई मापों पर चर्चा होती। संयोग व संभावित नामक अध्याय में बच्चों ने चित–पट का खेल मैदान में खेला व उसका चार्ट बनाकर कक्षा में लगा दिया। इस चार्ट में वास्तविक आंकड़ों को लिखा गया है। बेशक, इन चाट्र्स में देशज ज्ञान की खुशबू होती। जब अगला अध्याय शुरू होता तो पुराने चाट्र्स हटा दिए जाते व उस अध्याय के चाट्र्स चस्पा कर दिए जाते जो कक्षा में चल रहा है।

एक तरह से शिक्षक बनाने के लिए हमारे शिक्षा तंत्र में प्रशिक्षण पाना ज़रूरी तो है मगर इन प्रशिक्षणों में भी शिक्षा के प्रगतिशील विचारों को आज भी स्थान नहीं मिल पाया है।

अगर इन शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों पर नजर डालें तो वहां की दीवारों पर भी कमोबेश यही नजारा देखने को मिलता है। प्रशिक्षण संस्थानों की दीवारों पर जो चार्ट्स लगे होते हैं वे भी अमुमन इन्हीं विषयों के इर्द–गिर्द और लगभग वैसे ही होते हैं जैसे स्कूलों में बच्चों के द्वारा बनाए जाते हैं। लेसन प्लान जो बनाए जाते हैं उनमें भी चार्ट्स का खूब इस्तेमाल होता है। सेवाकालीन शिक्षकों को टीएलएम का प्रशिक्षण ये संस्थाएं देती आई हैं। अगर आप इन प्रशिक्षण संस्थानों में झांककर देखें तो वहां भी स्कूल से फर्क नजर नहीं दिखाई देता। दूसरे ढंग से कहा जाए तो जो शिक्षकों ने प्रशिक्षण के दौरान इन संस्थानों से पाया उसी का अनुसरण अपने स्कूलों में करते हैं। स्कूलों में वही प्रतिबिंबित होता है जो शिक्षकों ने प्रशिक्षणों में पाया है। बात सही भी है। जैसा बोएंगे वैसा काटेंगे! प्रशिक्षण में शिक्षकों के दिमाग में विचारों व अनुभवों के जैसे बीज बोए जाएंगे वही तो स्कूलों में परिलक्षित होगा। प्रशिक्षण संस्थानों में जीवंतता स्थापित करने को लेकर तो काफी चिंताएं हुई हैं मगर उसका असर परिलक्षित होता नहीं दिखता। विभिन्न शिक्षा नीतियों का गुणगान तो किया जाता है मगर उन पर अमल करने की ओर कदमताल करते हुए नहीं दिखते।

ऐसा लगता है कि शिक्षकों की तैयारी के पूर्व शिक्षक प्रशिक्षकों की तैयारी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस तैयारी का एक पहलू तो रवैयात्मक है जिसमें शिक्षक प्रशिक्षक शिक्षक प्रशिक्षणार्थियों के साथ किस प्रकार से पेश आते हैं। शिक्षक प्रशिक्षकों व शिक्षकों के बीच बराबरी स्थापित करने के संजीदा प्रयास नहीं होते। प्रशिक्षण संस्थानों में जो कुछ भी सिखाया जाता है वह यह कि कोई सवाल नहीं करना, जो कुछ भी बताया जा रहा है वही आखिरी सत्य है। दूसरा पहलू है विषयगत ज्ञान का शिक्षण। विषयों के सैद्धांतिक पक्षों पर भाषण तो होते हैं मगर उनमें संदर्भ स्थापित करने की कोशिशें नदारद ही होती हैं। शिक्षक प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम पूरा करना भर ही एक मकसद बन जाता है। इतना ही नहीं, व्यावहारिक ज्ञान को भी भाषणों से ही पढ़ाया जाता है। जब शिक्षक प्रशिक्षणों में व्यावहारिक ज्ञान भाषणों से पढ़ाया जाता है तो शिक्षक भी अपनी कक्षाओं में वैसा ही करेंगे और असल में यही हो भी रहा है। खासकर विज्ञान जैसे विषय में मात्र यह कहते रहना कि "यह करके सीखने" का विषय है। मगर इससे असल विज्ञान तो नहीं सीखा जा सकेगा। यही हालात भाषा को लेकर है। खासकर प्राथमिक कक्षाओं में, जहां बच्चों को पढ़ना–लिखना सिखाना एक महत्त्वपूर्ण कौशल है। मगर प्रशिक्षण संस्थानों में बच्चों को स्वतंत्र ढंग से कैसे पढ़ना–लिखना सिखाया जाए इस पर समझ बनाने व मौके पर कार्य करने के अवसर नहीं मिलते। स्वतंत्र ढंग से पढ़ने–लिखने के शिक्षकों के साथ भी यह कवायद नहीं हो पाती कि उनकी भाषायी क्षमता को विस्तार मिले। साथ ही बच्चों के साथ वे कौनसी प्रक्रियाएं की जाएं कि बच्चे एक स्वतंत्र पाठक व लेखक बन सकें, इस पर खुलकर विमर्श के अवसर भी नहीं मिलते। शिक्षा जगत में बच्चों में सृजनशीलता विकसित करने की बातें तो काफी होती हैं मगर शिक्षकों की सृजनशीलता को बढ़ाने के प्रयास न के बराबर होते हैं। यही वजह है कि जिस भावना से शिक्षक प्रशिक्षक शिक्षकों को प्रशिक्षित करता है उसी भावना के साथ शिक्षक स्कूल में अपने बच्चों के साथ पेश आते हैं।

कालू राम शर्मा : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, देहरादून में कार्य करते हैं। शिक्षा की बुनियाद की संपादन टीम के सदस्य।

फील्ड नोट्स

कमलेश जोशी

अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, उधमसिंह नगर के साथी स्कूलों में शैक्षिक गुणवत्ता को बढ़ावा देने के लिए शिद्दत से कार्य कर रहे हैं। पिछले दिनों कमलेश जोशी ने उधमसिंह नगर जिले की स्कूलों तथा विकास खंड स्तर पर आयोजित स्वैच्छिक समूह की बैठकों में शिरकत की तथा विभिन्न स्कूलों में सीखने–सिखाने की प्रक्रियाओं का जायजा लिया। इस दौरान शिक्षकों से जो संवाद हुआ उसे सिलसिलेवार दर्ज किया। प्रस्तुत है एक रपट...

राजकीय प्राथमिक विद्यालय बिडौरा में लगातार तीन दिन जाना हुआ। इस स्कूल में बयालीस बच्चे व दो शिक्षक हैं। विद्यालय की प्रधानाध्यापिका बीमार रहती हैं और कक्षा में काम नहीं कर पाती। जितने दिन हम स्कूल में रहे, वे अधिकांश समय अपने कमरे में आराम करती रहीं। मैं सोच रहा था, वे छुट्टी ले लेतीं तो अच्छा ही रहता। कुलवंत जी बता रहे थे कि वे दो महीने बाद रिटायर होने वाली हैं। विद्यालय के दूसरे शिक्षक रामकिशोर जी मेहनती शिक्षक हैं व संजीदा शिक्षक हैं। उन्हें मैं पहले से ही जानता हूं। वे हमारे हिन्दी के संदर्भ समूह में भी हैं। इन दिनों उनकी ड्यूटी मतदाता सूची ठीक करने में लगी हुई है। यह काम पिछले पंद्रह दिनों से चल रहा है, अभी और पंद्रह दिन चलेगा। इसके अलावा वे बच्चों के वजीफे के लिए

बैंक खाता खुलवाने के काम में भी लगे हुए हैं। इसके लिए उन्हें फार्म भरने पड़ते हैं। बच्चों के अभिभावकों से फोटो, पहचान पत्र आदि संकलित करने होते हैं। इसके लिए बच्चों के माता–पिता के साथ मशक्कत करनी पड़ती है। उन्हें आस–पास के गांवों में जाना पड़ता है। इस कारण वे आजकल कक्षा में समय नहीं दे पाते। बच्चे इधर –उधर घूमते रहते हैं या कुछ अपने मन से ही करने का प्रयास करते हैं। इसी कैंपस में एक जूनियर स्कूल भी है। इसमें लगभग पचास बच्चों पर चार शिक्षक हैं। इन दोनों स्कूलों के बीच किस तरह का तालमेल है? मुझे पता नहीं, पर यह देखने को मिला कि इस स्कूल से प्राथमिक स्कूल को कोई मदद नहीं मिलती। हमने स्कूल में तीनों दिन तीसरी, चौथी व पांचवी कक्षा के बच्चों के साथ दो–दो घंटे काम करने का प्रयास किया। उसमें समझ में आया कि पांचवी कक्षा के बच्चे सिमरन, राहुल, जसविन्दर, सुरिन्दर आदि अक्षर ही नहीं पहचान पाते हैं। इसके अलावा काफी बच्चे अटक–अटक कर पढ़ रहे थे। इस बारे में रामकिशोर जी से बात हुई कि बच्चों के स्तर के अनुसार समूह बनाकर उनके पढ़ने के स्तर को सुधारने का काम किया जाए। इसके लिए जरूरी है कि बच्चों को नियमित रूप से कक्षा में पढ़ने के मौके दिए जाएं। वे इस बात पर सहमत थे।

राजकीय प्राथमिक विद्यालय हल्दी पचपेड़ा में चौबेजी के साथ बैठा हुआ हूं। वहां के प्रधानाध्यापक धर्मपाल गंगवार बहुत ही संजीदा शिक्षक हैं। इसका एहसास उनके कमरे में बैठते ही हो गया था। वे हमारे हिंदी के संदर्भ समूह से भी जुड़े हुए हैं। उनसे बच्चों की पढ़ाई के बारे में बात हो रही थी। उनका कहना था उनके विद्यालय में अधिकतर प्रवासी मजदूरों के बच्चे आते हैं। बरसात के बाद अधिकतर बच्चे यहां से चले जाते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि जो बच्चे नियमित रूप से स्कूल नहीं आते वे पिछड़ जाते हैं।

उन्होंने विगत वर्ष बच्चों की उपस्थित पंजिका हमें दिखाई कि स्कूल के करीब 220 दिनों में कुछ बच्चे 22, 24, 35, 38 दिन स्कूल आए हैं। उन्होंने बताया कि इन बच्चों के माता–पिता मजदूरी करते हैं। अब बारिश के बाद यहां आपको नहीं मिलेंगे। उनका कहना था कि यह समस्या यहां के स्कूल के संदर्भ में हो सकती है। हो सकता है और विद्यालय में न हो। उनकी बातों से लगा, इस तरह की बातों का एहसास हमें स्कूल जाकर ही होता है। इसके लिए स्कूल को अपनी रणनीति बनानी चाहिए कि वे इस अल्प समय में बच्चों के सीखने के संबंध में क्या कर सकते हैं? फिर वे हमारे साथ कक्षा में भी साथ ही में रहे और बच्चों के समूह बनाकर पढ़ने का काम किया गया।

राजकीय प्राथमिक विद्यालय सड़ासड़िया में शिक्षिकाओं से हमारी बातचीत हो रही है। विद्यालय की दोनों शिक्षिकाएं काफी मेहनती हैं तथा स्कूल में मन से कार्य करती हैं। इसी बीच स्कूल की भोजन माता आ गईं और उनसे बात होने लगी। वह बिहार की मिड डे मील वाली घटना से बहुत दुखी थीं। उनका कहना था कि उस घटना से उन्हें काफी दुख हुआ। ऐसी घटना कहीं न हो। उन्होंने आगे कहा कि अब वे बच्चों को खाना देने से पहले खुद ही चखती हैं।

स्कूल की तीसरी –चौथी कक्षा के बच्चों को कुछ पढ़ने की सामग्री दी गई। उस पर उनके साथ बातचीत हुई। चौथी कक्षा के चार–पांच बच्चे वर्ण ही नहीं पहचान पाते हैं। इसका दुख उनके चेहरों पर साफ देखा जा सकता है। इसके बारे में शिक्षिका किरन का कहना था कि पृथ्वीपाल अप्रैल के बाद अब स्कूल आया है। जो बच्चे रोज स्कूल नहीं आते वे पढ़ना नहीं सीख पाते। ऐसी बात कल धर्मपाल जी भी कह रहे थे।

हेडमास्टर जी के कमरे में बच्चों की लाइन लगी हुई है। सोच रहा हूं कि शायद प्रधानाध्यापक जी बच्चों के वजीफे के फार्म भरवाने के बारे में कुछ पूछताछ कर रहे होंगे। परंतु मैं और अमित जब कमरे में बैठे तो पता चला कि गुरुजी कक्षा 4 के बच्चों से बारी – बारी से पहाड़े पूछ रहे थे। किसी से 7 का, किसी से 9 का, किसी से 13 का, किसी से 14 का। बच्चों को अच्छी तरह से पहाड़े याद हैं कि नहीं इसके लिए वे बीच–बीच में नौ सत्ते, बारह अट्ठे आदि भी पूछ रहे थे, जिससे उन्हें पता चल जाए कि बच्चे को पक्की तरह से पहाड़ा याद है कि नहीं। मैंने उनसे पूछा कि क्या बच्चों को पहाड़े याद हो जाने से गणित की समझ अच्छी हो जाती है? उनका कहना था कि यदि बच्चों को पहाड़े अच्छे से याद हो जाएं तो उन्हें गुणा, भाग में कोई दिक्कत नहीं आती। उनका यह भी मानना था कि कक्षा एक में 5 तक कक्षा दो में 10 तक कक्षा तीन में 15 तक तथा कक्षा चार में 20 तक पहाड़ा बच्चों को याद हो जाना चाहिए।

उनसे बातचीत में आगे यह पता चला कि वे मार्च में यहां स्थानान्तरित होकर के आए हैं तथा अप्रैल में नया सत्र शुरू हुआ है। उन्होंने आगे कहा कि जब मैं यहां आया था तो बच्चों को 3–4 के पहाड़े भी नहीं आते थे। इधर सुधार हुआ है। मैंने यह लक्ष्य बनाया है कि बच्चों को 20 तक पहाड़े याद होने चाहिए। आगे उन्होंने यह भी बताया कि जब मैं स्कूल आया था तो इस स्कूल में भंडारण रजिस्टर ही अभी तक नहीं बना है। यहां के सारे रिकार्ड भी मैंने व्यवस्थित किए हैं। समुदाय से सहयोग लेकर अलमारी भी खरीदी है। इसके बाद उन्होंने इस बात की भी जानकारी दी कि किस तरह से उन्होंने पिछले साल बीएलओ ड्यूटी करने से मना कर दिया था। उन्होंने तहसीलदार से कहा कि आपको जो कार्रवाई करनी है कर लो हमें यह ड्यूटी नहीं करनी है। उनको इस बात के लिए रोष था कि शिक्षकों से मिड डे मील, पहचान पत्र निर्माण, भवन निर्माण आदि कार्यों में क्यों लगाया

जाता है? उनका कहना था कि हमें क्या पता कि भवन निर्माण की गुणवत्ता क्या होती है? इसका तो हमने प्रशिक्षण नहीं लिया है।

उनसे बातचीत के दौरान हमें यह भी देखने को मिला कि अन्य कक्षाओं में भी शिक्षिकाएं अपना–अपना कार्य कर रही थीं। इंटरवल के समय दो शिक्षकाएं उनके पास आयीं, उन्हें किसी कार्य से बाहर जाना था। उन्होंने कहा, कि इस रजिस्टर पर साइन करके जाएं। उन्होंने कहा, अब हम दो बजे तक स्कूल मैं बैठते हैं। उनके साथ बातचीत के समय मैं यह सोचता रहा कि प्रधानाध्यापक बाबू मजूमदार में कौन से नेतृत्व के गुण हैं? मैं नहीं जानता, लेकिन स्कूल में कुछ पढ़ाई की व्यवस्था है। वे बच्चों को पहाड़े याद कराने पर ही फोकस कर रहे थे। इससे उनकी शिक्षणशास्त्रीय सीमाओं का पता चल जाता है। हमें वह बच्चों से पहाड़े पूछते मिले। अगर वे बच्चों की विधिवत कक्षा ले रहे होते तो सबसे बढ़िया बात होती। हो सकता है वे लेते भी हों! उनके स्कूल में 318 बच्चे और 7 शिक्षक हैं। आगे उन्होंने यह भी बताया कि अभी मुझे पास के प्राइवेट स्कूल बालमंगलम् के बच्चे तोड़कर यहां भर्ती करवाने हैं।

अक्सर जब हम स्कूल जाते हैं तो हमारे मन में विभिन्न प्रकार के शैक्षिक सिद्धान्त रहते हैं। परंतु फील्ड की स्थिति बहुत अलग तरह की रहती है। मैं यह सोच रहा हूं कि उनसे और क्या बात करूं। मैं तो यहां रोज–रोज यहां आता नहीं हूं । इतने में डीपीओ साहब आ गए और प्रधानाध्यापक जी उनके साथ हो लिए और भारती जी से मिड डे मील का रजिस्टर मंगवाने लगे।

इसके उपरान्त हिन्दी की शिक्षिका भारती जोशी की कक्षा में हम उनसे मिलने गए। वे हिन्दी के संदर्भ समूह से जुड़ी शिक्षिका हैं। वे तीसरी कक्षा के बच्चों को पढ़ाती हैं। उनसे बच्चों के पढ़ने –लिखने के बारे में बात हुई तो उन्होंने आत्मविश्वास के साथ कहा कि बच्चों से पूछकर देख लीजिए। मैंने सोचा कि हम बच्चों का स्तर जांचने तो नहीं आए हैं परंतु उनकी कक्षा को देखकर एहसास हुआ कि उनके बच्चों का स्तर ठीक ही होगा। फिर उनसे बच्चों से पढ़ाने के तरीकों व उनकी पढ़ने की आदतों के बारे में बात हुई। आखिर में उन्हें भाषा शिक्षण से जुड़ी कुछ सामग्री उन्हें देने की बात हुई।

खटीमा ब्लॉक के बीईओ कार्यालय में बैठक चल रही है। उसमें बीईओ, बीआरसी, एबीआरसी, सीआरसी आदि बैठे हुए हैं। स्कूल की पढ़ाई–लिखाई के बारे में बात हो रही है। पहले स्कूलों के ग्रेडिंग सिस्टम पर बात हुई। इसके बाद स्कूल की पढ़ाई के बारे में बात हुई। संकुल समन्वयक शम्सुल इस्लाम कह रहे हैं कि साहब, हमारी मानो तो स्कूल में बच्चों को स्वर–व्यंजन सिखाने के लिए शिक्षकों से बात करो। बच्चों के पढ़ने का स्तर बहुत कम है। मैंने तो अपने कुछ स्कूलों से कहा है कि वे ऐसा करें और कोई बहुत बड़ी योजना बनाने की जरूरत नहीं है। यह सुनकर चौंक जाता हूं, मुझे पूर्ण भाषा पद्धति याद आ जाती है। स्कूलों की वास्तविक स्थिति को भी समझ रहा हूं। आगे मैं कहता हूं, वर्णमाला के साथ बच्चों को खुद पढ़ने की सामग्री व उन्हें पढ़ने के मौके देने चाहिए। इसके लिए उपयुक्त सामग्री की व्यवस्था करनी की चाहिए। बच्चों को पढ़ना पढ़ने से ही आएगा। इस बात को समझने की जरूरत है।

संकुल समन्वयक कुछ हद तक बात ठीक ही कह रहे थे कि हम स्कूल के बारे में कभी–कभी ऐसी योजना सोचते हैं जो उनके संदर्भ में सही ही नहीं बैठती। अधिकतर प्राथमिक विद्यालयों के हालात ऐसे हैं जहां बच्चे प्रवाह से नहीं पढ़ पाते। कई बच्चों को वर्णों की पहचान नहीं है। इस तरह के मुद्दे शिक्षकों से बातचीत में उठते रहते हैं। परंतु ब्लॉक व जिले के पास इस कार्य के लिए कोई ठोस योजना नहीं हैं! जबकि यह 'नीड बेस्ड' कार्य है।

शिक्षकों के स्वैच्छिक समूह की बैठक प्रतिभाग करने शक्तिफार्म जा रहे हैं। सिरसा फार्म से शक्तिफार्म के बीच का 16 किमी का बरसात के मौसम में जंगल का सुनसान रास्ता अच्छा लग रहा है। आज राजकीय प्राथमिक विद्यालय शक्तिफार्म नम्बर 4 में नवगठित स्वैच्छिक शिक्षक समूह के साथ दूसरी बैठक थी। इस बैठक में करीब दस शिक्षक उपस्थित थे। योजना यह थी कि प्राथमिक कक्षाओं में बच्चों की पढ़ने की समस्याओं के बारे में चर्चा की जाए। इसके लिए उन्हें पढ़ने को 'अशोक की कहानी' नामक लेख दिया गया। इस पर चर्चा के दौरान उन्होंने अपनी कई तरह की समस्याएं रखनी शुरू कर दीं और चर्चा कहीं की कहीं पहुंच गई। एक शिक्षक ने कहा, 'उनके पास मिड डे मील का काम है। दूसरे ने कहा, 'निर्माण कार्य का काम है। स्कूल बिल्डिंग बनवा रहे हैं।' किसी ने कहा, 'मैं स्कूल में अकेले हूं, अस्सी बच्चे हैं।' किसी ने कहा, 'स्कूल की पाठ्यपुस्तकें अच्छी नहीं हैं। प्राइवेट स्कूल की रंगीन किताबें अच्छी हैं।' किसी ने कहा, 'बांग्लाभाषी बच्चे हैं, उन्हें अंग्रेजी सिखाना आसान पड़ता है।' किसी ने कहा,' बीएलओ ड्यूटी लगी हुई है। बच्चों को क्या पढ़ाएंगे।' एक शिक्षक ने कहा, 'सरकार खुद नहीं चाहती कि हम लोग स्कूल में बच्चों को पढ़ाएं, तभी हमारी ड्यूटी दूसरे कामों में लगायी जाती है। 'उन्होंने आगे कहा, 'आरटीई आए लगभग तीन साल हो गए हैं लेकिन स्कूल में पूरे शिक्षक नहीं हैं।' किसी ने कहा, 'ब्लॉक से लोग अनुश्रवण पर आते हैं और वे मिड डे मील के बारे में ज्यादा पूछते हैं।'

शिक्षकों की इन सब बातों को सुनकर ऐसा लगता है कि सरकार वास्तव में नहीं चाहती कि शिक्षक बच्चों को पढ़ाएं। तभी तो उन्हें वह दूसरे कामों में उलझाए रहती है। उनकी इन बातों पर जिले की शिक्षा प्रणाली भी नहीं सोचती, नहीं तो कुछ समस्याओं के हल तो निकाले ही जा सकते हैं और बच्चों के सीखने–सिखाने को केन्द्र में लाया जा सकता है। इन चर्चाओं पर थोड़ी चर्चा के बाद कुछ और बात आगे बढ़ी।

बैठक में एक शिक्षक ने बच्चों को लिखने के अभ्यास के बारे में बातचीत की। उन्होंने बताया कि बच्चों को सुलेख लिखाना बहुत जरूरी है। इसके अंतर्गत अगर रोज बच्चों से प्रार्थना पत्र लिखाया जाए तो उन्हें लिखना भी आएगा और उन्हें प्रार्थनापत्र भी याद हो जाएगा। यह काम रोज करना चाहिए। मैं सोचने लगा कि शिक्षकों के साथ अभी बहुत संवाद करने की जरूरत है। आगे मैंने कहा कि अगर बच्चे अपने आस–पास के परिवेश के बारे में लिखें तो कैसा रहेगा? उनके खुद के सोच के लिखने का दायरा बढ़ेगा। तब सभी ने कहा, यह कर सकते हैं।

इसी बैठक में एक शिक्षक ने बड़ा मासूम सा प्रश्न उठाया कि मेरी समझ में यह नहीं आता कि पुरानी पढ़ाई में क्या दिक्कत थी? शिक्षक हमें मारते थे तो हम सीख जाते थे। उसी पढ़ाई को फिर नहीं लागू किया जा सकता! मैंने सोचा इनकी भड़ास के बाद एक बढ़िया सवाल उभरा है, इस पर बातचीत हो सकती है। मैंने कहा कि अगर हम इस सवाल पर अच्छी तरह विचार कर लें तो यह एक सार्थक बात होगी। इस पर समय कम होने के कारण थोड़ी बहुत बात हुई और उन्हें खुद सोचने के संकेत दिए गए जिसमें यह बात हुई कि उस समय कितने बच्चे स्कूल जाते थे? किन जातियों के बच्चे स्कूल जाते थे? वे कितना पढ़ पाते थे? आदि बातें। यहां यह महसूस हुआ कि शिक्षकों के साथ संवाद में इस तरह के उनके द्वारा पूछे गए प्रश्न संवाद की दिशा खोल देते हैं।

कमलेश जोशी : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, उधमसिंह नगर, उत्तराखण्ड में कार्य करते हैं।

वास्तविक विद्यालयी अनुभव

संतोष उपाध्याय

इस आलेख का मकसद सेवापूर्व शिक्षकों (शिक्षक–प्रशिक्षण कार्यक्रम) को उनके प्रशिक्षण के दौरान दिए जाने वाले स्कूली शिक्षा के पाठ योजनाओं के व्यावहारिक अनुभवों के खंड शिक्षण अभ्यास (ब्लॉक प्रेक्टिस) यानि कि पूर्णकालिक स्कूली कार्यक्रम की एक छवि को प्रस्तुत करना है।

शिक्षक–शिक्षा पाठ्यक्रम के अंतर्गत खंड शिक्षण अभ्यास कार्यक्रम (ब्लॉक प्रेक्टिस टीचिंग) एक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है। इसमें छात्राध्यापकों को शिक्षक के रूप में वास्तविक विद्यालयी अनुभव प्राप्त करने के लिए खंड स्तर पर स्थित माध्यमिक अथवा उच्च माध्यमिक विद्यालयों में 10 दिन बिताने होते हैं। यहां वे कक्षा शिक्षण के साथ–साथ पाठ्य–सहगामी क्रियाओं के आयोजन एवं विद्यालय संचालन की संपूर्ण प्रक्रिया का अनुभव लेते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि कुछ गिने–चुने शिक्षक–प्रशिक्षण महाविद्यालय हैं जो इस कार्यक्रम का आदर्श रूप में संचालन करते हैं। अधिकांश महाविद्यालयों द्वारा इसे स्थानीय विद्यालयों में ही संपन्न करवा कर मात्र खाना पूर्ति कर ली जाती है। इसके पीछे कई कारण हैं, जैसे 10 दिन बाहर जा कर व्यवस्था करना और विभिन्न विद्यालयों से स्वीकृति लेना बहुत पेचीदा होता है। दूसरा विद्यार्थियों के साथ शिक्षक प्रशिक्षकों को भी 10 दिन बाहर रहना होता है। इन परेशानियों से बचने के लिए विद्यार्थियों को एक जीवन्त अनुभव से वंचित रहना पड़ता है।

मैंने इसी वर्ष विद्या भवन शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में अपनी सेवाएं प्रारंभ की है। मुझे इस शिक्षण अभ्यास कार्यक्रम में जाने का मौका मिला। इसमें प्रशिक्षणर्थियों के 30–30 के समूह बनाए गए थे। तीन समूह सिरोही, एक राजसमन्द और दो समूह डूंगरपुर जिले में गए और वहां के विद्यालयों में इस कार्यक्रम की गतिविधियों का संचालन किया। हम राजसमंद गए थे।

कार्यक्रम से अपेक्षा छात्राध्यापकों को वास्तविक शिक्षण का अनुभव करवाना था। कोशिश यह थी कि उन्हें एक अच्छे स्कूल का अनुभव मिले। वे यह समझें कि स्कूल क्या है, स्कूल काम कैसे करता है और स्कूल में अध्यापक और बच्चे समय कैसे बिताते हैं। कक्षा में अभी तक जो पाठ्यपुस्तकों को आधार बना कर शिक्षण दिया जा रहा था इससे बाहर निकलें। साथ ही, साथ रहने का अनुभव प्राप्त करें। प्रत्येक दिन वे क्या सीख रहे हैं, उसका शाम की फीडबैक मिटिंग और रिपोर्ट के माध्यम से प्रस्तुतीकरण किया जाता।

पूर्व तैयारी

कार्यक्रम का प्रारंभ उदयपुर के आसपास के जिलों में स्थित विद्यालयों से संपर्क के साथ शुरू हुआ।

विद्यालयों की व्यवस्था के साथ ही इतने ही समूहों के ठहरने खाने–पीने की व्यवस्था का काम महत्त्वपूर्ण था। प्रत्येक जगह विद्यालयों की सहमति हेतु जिला शिक्षा अधिकारी की स्वीकृति लेनी आवश्यक थी। यहीं से जिला शिक्षा अधिकारी के कार्यालयों में जाने की कवायद शुरू हुई। कहीं सफलता मिली व कहीं अधिकारी नदारद थे। खैर! काफी जद्दोजहद के पश्चात जब स्वीकृति प्राप्त हुई तो विद्यालयों से संपर्क प्रारंभ हुआ। वहां भी कहीं प्राचार्य महोदय छुट्टी पर थे तो कहीं यह कह कर मना कर दिया कि कोर्स पूरा नहीं हुआ है और परीक्षाएं नजदीक हैं। करीब 10 विद्यालयों की सूची अधिकारी के सामने रखने के बाद तीन या चार विद्यालयों की स्वीकृति मिली उनमें से एक या दो विद्यालय अपने कार्यक्रम के लिए तय किए गए। यह भी सुनिश्चित करना होता कि प्रतिदिन छात्राध्यापक जहां ठहरे हैं वहां से विद्यालय कैसे जाएंगे आदि।

विद्यालय संपर्क

मैं और मेरे पर्यवेक्षक साथी को 30 शिक्षार्थियों के समूह के साथ राजसमंद जिले में जाना था। एक दिन पूर्व हम बस से राजसमंद पहुंचे। बस से जाते वक्त सभी चुपचाप थे। किसी के मित्र थे, किसी के नहीं। बस में सब अगल–अलग बैठे थे। कुछ परेशानियों के साथ समझौता करते हुए हमने पहला पड़ाव पार किया। हमारे ठहरने की व्यवस्था एक धर्मशाला में हुई। लड़कों तथा लड़कियों के लिए एक–एक हॉल की व्यवस्था हो पाई। लड़कियां तो मान गईं लेकिन लड़कों ने कहा हमें अलग–अगल कमरे चाहिए। सभी साथ नहीं रहेंगे। व्यवस्थापक ने कहा अभी कमरे नहीं है बाद में व्यवस्था हो जाएगी। दो दिन में वे इतना घुलमिल गए कि जब कमरे खाली होने की बात की गई तो सभी ने मना कर दिया और कहा कि हम साथ ही रहेंगे।

पहले दिन सभी सुबह समय से एक घंटा पूर्व तैयार होकर विद्यालय जाने के लिए तैयार हुए। हमारे पास पांच विद्यालयों की अनुमति थी जिनमें से हमें 30 छात्राध्यापकों के लिए एक या दो विद्यालयों का चयन करना था। दो–तीन स्कूलों में जाने के पश्चात लगा कि वहां व्यवस्था नहीं हो पाएगी क्योंकि एक में बच्चे कम थे, एक में विद्यालय दो शिफ्ट में चलता है। हम उलझन में थे कि क्या करें, इतने में वहीं एक विद्यालय के अध्यापक ने हमें बताया कि पास ही एक सीनियर सैकंडरी स्कूल है, आप वहां चले जाइए। हम वहां पहुंचे तो पता चला कि प्राचार्य तीन दिन के लिए अवकाश पर हैं। हमने सह प्राचार्य से बातचीत की। आखिरकार हमें स्वीकृति मिल पाई। हमने छात्राध्यापकों को अगले 10 दिन की समय–सारणी बनाने के निर्देश दिए। 10 दिन कार्यक्रम कैसे व्यवस्थित चले इसके लिए छात्राध्यापकों ने एक तरीका निकाला। सभी ने अपने–अपने स्तर पर जिम्मेदारियां बांट लीं। जैसे एक प्राचार्य बना, एक उपप्राचार्य, समय–सारणी प्रभारी, खेल प्रभारी आदि। इस प्रकार पहला दिन बीता।

फीडबैक मिटिंग

शाम को भोजन के बाद सभी फीडबैक के लिए एकत्र हुए। सभी के सामने प्रश्न रखा कि आज दिनभर में आपने क्या सीखा, बताएं और अपनी विद्यालय अवलोकन की रिपोर्ट प्रस्तुत करें। प्रत्येक छात्रध्यापक की बारी आई तो कुछ ने कहा कि हमने कुछ नहीं सीखा। कुछ ने कहा कि हमने समय–सारणी बनाना सीखा, कुछ ने कहा हमने पढ़ाना सीखा आदि।

चर्चा के दौरान उनसे कहा गया कि ऐसा क्यों हुआ कि हम पूरे दिन विद्यालय में बच्चों और शिक्षकों के साथ बिताएं और कुछ नहीं सीख पाएं। विद्यालय की उन बारीकियों के बारे में समझना जो पहली बार सीखी या अनुभव की हो। जैसे समय सारणी और पढ़ाना तो पहले भी किया है। उन्हें फिर से

कुछ समय सोचने का मौका दिया गया और कहा गया कि कल जब वे विद्यालय जाएं तो उन बारिकीयों का ध्यान रखें।

जब विद्यालय अवलोकन की रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए कहा तो लगभग सभी की रिपोर्ट एक जैसी थी। कितने कमरे हैं, कितने अध्यापक हैं, कितने बच्चे हैं, कितना बड़ा खेल का मैदान है, कितने पीरियड होते हैं आदि। सभी ने विद्यालय के केवल भौतिक संसाधनों के बारे में लिखा। उनसे पूछा गया कि विद्यालय में अध्यापक थे, बच्चे थे, ऑफिस में काम करने वाले लोग थे, भोजन बनाने वाली बाई थी उनके बारे में कुछ नहीं लिखा? अध्यापकों में कैसे संबंध थे, उनके बच्चों के साथ कैसे संबंध थे, अध्यापक बच्चों को कैसे पढ़ाते थे, बच्चे कैसे सीखते थे, कक्षा का वातावरण कैसा था? सभी चुप हो गए। फिर हमने विद्यालय का अवलोकन करने के लिए सभी को एक–एक अवलोकन प्रपत्र प्रदान किया और उसके आधार पर अपनी अवलोकन रिपोर्ट तैयार करने को कहा।

इस तरह जहां पहले दिन की रिपोर्ट बहुत हल्की थी और आधा या एक पेज की थी, निरंतर शाम को चर्चा और एक दूसरे की रिपोर्ट सुनकर अनुभव और फीडबैक लेते हुए दसवें दिन तक बेहतर बनती चली गई। साथ ही जहां पहले दिन अपनी प्रस्तुति के लिए झिझक रहे थे, उनकी झिझक भी खुली और वे अपना बेहतर प्रस्तुतीकरण देने लगे।

शिक्षार्थियों के अनुभव

प्रत्येक दिन की स्कूली दिनचर्या में सुबह जल्दी उठकर शिक्षण हेतु पाठ योजना बनाना, शिक्षण सामग्री तैयार करना, स्कूल में होने वाली विविध पाठ्य–सहगामी क्रियाओं के आयोजन की रूपरेखा बनाना तथा विद्यालय अभिलेखों की जानकारी प्राप्त करते हुए उनको भरना, सीखना सम्मिलित था। प्रथम दिन सभी शिक्षार्थी काफी असमंजस एवं तनाव में थे परंतु इस संपूर्ण प्रक्रिया में अपनी समझ विकसित करने में उन्हें केवल एक दिन लगा। तत्पश्चात दिनों–दिन उनका उत्साह बढ़ता चला गया। प्रत्येक दिन विद्यालय समाप्त होते ही सभी निर्धारित निवास स्थान पर पहुंच जाते एवं अल्पाहार के पश्चात सांयकालीन बैठक में अपनी उपस्थिति देते। हमने प्रत्येक छात्राध्यापक से विद्यालय के प्रत्येक पक्ष पर अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए प्रोत्साहित किया।

प्रार्थना सभा

विद्यालय पहुंचते ही सबसे पहला काम प्रार्थना सभा का संपूर्ण कार्य संभालना था। अतः उनका पहला अनुभव खट्टा–मीठा रहा। उन्होंने प्रार्थना सभा के तौर–तरीकों को देखा और समझने का प्रयास किया, अपने अनुभव को वहां क्रियान्वित करने का प्रयास किया। किन्तु आपसी तालमेल व तारतम्यता का अभाव रहा। इस पर उन्होंने स्वीकारा कि प्रत्येक कार्य में पूर्व तैयारी कितनी भी क्यों न हो, जब तक वास्तविक परिस्थितियों से सामना न हो, उसमें परफेक्शन नहीं आ सकता। अगले दिन वे काफी उत्साहित व प्रसन्न नजर आए। दिनों–दिन प्रार्थना सभा की विभिन्न गतिविधियों को न सिर्फ उन्होंने करवाया अपितु स्वयं भी अपने–अपने नए अनुभवों को विद्यार्थियों के साथ बांटा।

शिक्षण कार्य

सभी कालांशों व कक्षाओं में शिक्षण कार्य का दायित्व छात्राध्यापकों पर था। अतः प्रथम दिन थोड़ी अव्यवस्था का सामना करना पड़ा। छात्राध्यापकों में जो एक बात समान थी वह यह कि वे कक्षा में प्रवेश होते ही शिक्षक होने का अहसास कर रहे थे। उन्होंने विद्यार्थियों को सहजता एवं उनकी सहभागिता से पढ़ाया। साथ ही स्वीकारा कि जब तक अपने विषय अथवा पाठ की विषय–वस्तु की पूर्ण समझ न हो

तब तक शिक्षण अधूरा व प्रभावहीन होता है। अन्य विषयों की भी समझ होनी आवश्यक है। उनका मानना था कि विद्यार्थियों को गलत उत्तर नहीं देना चाहिए। अगर किसी सवाल का जवाब नहीं आता तो साहस के साथ मना करना बेहतर है। अपने क्षेत्र के इतिहास और भूगोल की समझ होनी चाहिए अन्यथा वे विषय ठीक से नहीं पढ़ाए जा सकते। इस प्रकार उनमें धीरे–धीरे शिक्षण, पाठ्य वस्तु, बालकों के मनोविज्ञान व कक्षा–कक्ष संबंधी अनेकानेक बातों के बारे में समझ विकसित हुई।

कार्यालयी कार्य

छात्राध्यापकों को शिक्षण कार्य के साथ कार्यालय के विभिन्न रिकॉर्ड्स भरने व उन्हें समझने का कार्य भी करना था। प्रथम दिन उन्हें इससे संबंधित प्रक्रिया समझ नहीं आई। इसके लिए हमने उनके समूह बनाकर तीन–तीन रिकॉर्ड भरने का कार्य सौंपा तथा सायंकालीन बैठक में उनका प्रस्तुतीकरण करवाया जिससे सभी रिकॉर्ड्स की जानकारी प्राप्त हो पाई व उन्हें इस कार्य की उपयोगिता व उद्देश्यों का पता चला।

पाठ्य–सहगामी क्रियाएं

इसके लिए उन्होंने अपनी समय सारणी में दो कालांशों को चुना। इनमें मुख्यतः खेल, रंगोली, मेहंदी, नृत्य, कविता, समूह गान, ड्राईंग, स्लोगन, पोस्टर व भित्ति पत्रिका आदि की रूपरेखा तैयार की। अंतिम दो कालांश में बच्चों की पसंद के खेल के बारे में बातचीत की व कबड्डी, खो–खो, सितोलिया आदि खेल खिलवाए। यह देखा गया कि विद्यालय में खेल का एक भी कालांश नहीं होता है। अब खेलने को मिला है तो बहुत अच्छा लगा। मेहंदी, रंगोली आदि विविध प्रतियोगिताओं की रूपरेखा बनाई और क्रियान्वित किया गया। शाम की बैठक में उनके अनुभव थे कि बच्चों के साथ सीखने–सिखाने की प्रक्रियाएं चुनौतीपूर्ण कार्य है। वास्तविक परिस्थिति में आने वाली कठिनाइयों का समाधान इसी दौरान कैसे किया जाए, यह हमने सीखा। जैसे मेहंदी प्रतियोगिता के दौरान मेहंदी के कोन खराब आ गए और उन्होंने उसी समय व्यवस्था कर दूसरे कोन उपलब्ध करवाए। कार्यक्रम के दौरान कक्षा 10 व 12 के विद्यार्थियों का विदाई समारोह था। इस कार्यक्रम के संचालन का कार्य भी छात्राध्यापकों ने बखूबी निभाया। वहां के विद्यार्थियों को विभिन्न प्रस्तुतीकरण के लिए तैयार किया।

खंड शिक्षण अभ्यास कार्यक्रम की महत्त्वपूर्ण गतिविधि सायंकालीन बैठक, जिसमें छात्राध्यापक समूह में अपने अनुभवों और विचारों को सबके सामने प्रस्तुत करते। अंतिम दिन छात्राध्यापकों ने कहा कि हम पहले यह सोचते थे कि इतनी दूर विद्यालयों में ले जाने का क्या मतलब है यह अब समझ में आया। यहां दिन–रात साथ रहकर यह महसूस किया कि जो कुछ नए अनुभव प्राप्त किए यह अपने विद्यालयों में अकेले रहकर संभव नहीं था। हमने एक दूसरे के साथ काम किया। एक दूसरे को समझा, नए दोस्त बनाए और साथ मिलकर काम करने का आनंद उठाया। अंतिम दिन वापसी के दौरान बस में बहुत शोरगुल, गाना बजाना और मस्ती थी। सभी एक दूसरे में अच्छी तरह घुलमिल गए थे।

संतोष उपाध्याय : व्याख्याता (हिन्दी), विद्या भवन गो. से. शिक्षक महाविद्यालय, उदयपुर।

प्राथमिक शाला की बुनियादी सच्चाइयां

सरन काला

यह आलेख एक शिक्षिका के स्कूली शिक्षा में बच्चों को पढ़ाने के अपने अनुभवों को प्रकट करते हुए यह दिखाता है कि स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों की और उनके सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझना एक शिक्षक के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है और तभी एक शिक्षक सीखने–सिखाने के अपने दायित्व को सही ढ़ंग से पूरा कर सकेगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने वर्षों पूर्व ज्ञान के संबंध में कितना सही लिखा था–

''ज्ञान अगम प्रव्यूह अनेका''

नहीं कहु दुर्लभ ज्ञान समाना''

ज्ञान के पंथ, कृपाण के धार, भक्ति की बात को एक ओर रखकर मैं शिक्षकों से ही प्रश्न करती हूं– इस दृश्यमान जागत की बुनियादी सच्चाइयों का ज्ञान हमें कैसे होता है? क्या तरीका है उस ज्ञान को पाने का? हम सोचते कैसे हैं? ये सोचने का काम कौन करता है? हमारा मन... बुद्धि कौन? बुद्धि में बातें आती कहां से हैं... इन प्रश्नों पर हम कितने जिज्ञासु हैं.... एक शिक्षक जब कक्षा में जाने से पूर्व इन प्रश्नों पर विचार करता है तब ये ही ''कृपाण की धार'' बन जाती है...

स्कूल में शिक्षण कार्य करते हुए, मेडम मॉण्टेसरी के ज्ञान की विदुषी स्व. सुशीला दशोत्तर के साथ काम करते हुए बच्चों की गतिविधियों में उतरकर सोचने की प्रक्रिया तलाशते रहे। हमारी सोची हुई गतिविधि में जब बालक अपनी सोच से परिवर्तन कर देता तो सुशीला बहन जी हमें निर्देश देतीं यही समय है, सोचो उसने ऐसा क्यों किया... इस क्यों के उत्तर कई गतिविधियों को जन्म दे देते थे... हम प्रयोग करते रहे। उन प्रयोगों के साथ हमारी अपनी सोचने की आदत भी बदलती रही, आज की भाषा में कहूं, ज्ञान मीमांसा की ओर उन्मुख होती रही। जिससे बाल मन की गहराइयों में क्रमशः मैं और मेरी पार्टनर कंचन बोर्दिया उतरती चली गईं। आज देखती हूं, कई लोग बात करते नजर आते हैं– मेरा एपरेजल बड़ा अच्छा बन

गया, अब मुझे तरक्की मिलेगी। परन्तु जब मैं अतीत में लौटती हूं तो हम जितना गतिविधि प्रयोग करते... नए–नए तरीके से घंटों बैठकर अध्ययन करते। बच्चों से तरह–तरह के सरल प्रश्नों को पूछते और उनके भोले–भाले, प्यारे–प्यारे उत्तर धैर्य एवं रुचि से सुनते, उनकी बाल चेष्टाओं का घंटों बैठकर अवलोकन करते। उतना ही सुशीला बहन जी के शब्दों में यही दबाव रहता कि तुम दोनों इन्हीं के लिए हो... हम दोनों के होंसले और बुलंद हो जाते। फिर नई धारा में उतने ही उत्साह से हम नई पकड़ मजबूत बनाने में लग जाएं।

आज की जैसी नर्सरी में इतनी चमकदार बड़ी–बड़ी रंगीन पिक्चर वाली पुस्तकें नहीं थीं, केवल मैडम मांटेसरी एपरेटस... वे सारी प्रक्रियाओं को एक बार प्रदर्शन करने के बाद बच्चे आपसी सम्पर्क से एक दूसरे को बताते जाते... छीना–झपटी खूब होती... देखने में आता, बालक इतना क्रियाशील होता है कि आपकी प्रक्रिया को नया आकार प्रदान कर सकता है। यहीं एक प्रश्न उठता है कि हम बालक को सिखा रहे हैं या वो हमें सिखा रहा है। हमारा प्रयास उनके किसी प्रश्न के उत्तर पर हमें सोचने का अवसर देता कि ये उत्तर उसे मिला कहां से! जैसे... एक चित्र एक बालक ने बनाया, हमने उस चित्र के बारे में गोले में बैठे बच्चों से पूछा कि चित्र में क्या देख रहे हो? एक बच्चा तुरन्त बोला पड़ा– पापा टूर पर जा रहे हैं.... हम बच्चों से चित्र बनवाकर उन पर खूब बातें करने का उन्हें अवसर देते जिससे उनका नवीन शब्द भण्डार विकसित होता।

बच्चों के जाने के बाद सुशीला बहन जी हमसे केवल दो प्रश्न करती थीं– गतिविधि पर बच्चों की प्रतिक्रिया क्या रही, उन्होंने उस पर क्या सोचा... और आपने ने क्या सोचा था? बच्चों ने जो सोचा होता था, उसमें बच्चों की तार्किक क्षमता विकसित हो रही थी हम उन शब्दों को लिख लेते थे... नहीं जी... ऐसे थोड़ी होता है... मैं तो ऐसे ही करूंगा... मेरा देखो कितना सुंदर बना... मैं ऐसा करूंगा– मेरा अच्छा .... ऐसा भी हो सकता है? इससे उसके चारों ओर की दुनिया के बारे में उसकी अवधारणा कैसी है, हमारे लिए गृहकार्य होता।

एक दिन की बात है। सर्दी के दिन थे। हमें कहा गया कि बच्चों के सैंडपीट में पानी न दें... हमने पानी नहीं दिया... बच्चों की शोध दृष्टि में कितना पैनापन है।... उस दिन समझ आया उन्होंने रेत में खड्डा करके सू–सू कर लिया और तालाब बनाकर छोटे–छोटे.... कागज की नाव बनाकर छोड़ दी... वो पल अविस्मरणीय थे... हमें उन्होंने सिखा दिया था, कि वे वस्तु देखकर समझने का काम भी कर सकते हैं।

मेरा इस घटना को कहने का मतलब है कोई भी चाहे, वो बच्चे की सहज क्रियाएं ही हों, उसके दिमाग में एक योजना के रूप में मौजूद रहती है। उनके दिमाग में चीजों के अर्थ निकलने शुरू हो गए थे।

हमें सुशीला बहन जी ने निर्देश दिए, अब उन्हें इन्द्रिय बोध की सहज क्रिया करवानी चाहिए। तालाब में नाव तैरने की घटना ने हमें उन गतिविधियों के प्रयोग की ओर सोचने का काम दिया, जिसमें बच्चे उनके नाम बता सकें...अब फूल उनके लिए फूल ही नहीं... लाल–पीला–गुलाब... गेंदा बन रहा था। बच्चा अपने नाश्ते में रोटी को बड़ी–छोटी... अधिक–कम कहने लगा था। उसकी मानसिक क्रिया विकसित होने लगी थी। वह खूब बातें करके वाक्य निर्माण कर रहा था। अब 3+ में उसकी अपनी खयाली दुनिया बन रही थी...।

दरी पर लेटकर खिलौनों की गाड़ी को चौकी के नीचे निकाल कर पुल का निर्माण कर रहा था। ... हमारी गतिविधियों का रूप तेजी से बदल रहा था... गृहकार्य बढ़ता जा रहा था।... ढेरों काड्र्स बनते फटते थे। परन्तु हम खुश थे... नवीनता में, अपने उपर्युक्त अनुभव से शुरुआत कर मैं आज बी.एस.टी.सी. के छात्राध्यापकों के बीच जब प्राईमरी स्कूल में बैठती हूं ... वहां पाठ्यक्रम के घेरे में बंधकर छात्राध्यापकों को पाठयोजना बनाते देख बहुत संवेदनशील हो जाती हूं... आज पुस्तकों को देखकर पाठ्यक्रम बन रहा है। हम लोग बच्चे ज्ञान कैसे अर्जित करते हैं, उनकी चेष्टा को निहार कर पाठ्यक्रम बनाते थे। ये क्रियाएं ही हमारा कुंजी की तरह काम करती थीं।

मैं सदैव जॉन हॉल्ट के शब्दों को अपने छात्राध्यापकों के सम्मुख दोहराती हूं... ''खुदा का लबादा उतारकर मनुष्य का आचरण करो।''

यदि कोई छात्राध्यापक ये कहता है कि मैंने आज बच्चे को ये सिखाया... मैं उससे तुरंत पूछती हूं बच्चों ने तुम्हें क्या सिखाया... वे तीन बातें मुझे बताओ... आप सोच सकते हैं फिर क्या–क्या सामने आता होगा...। शिक्षण संस्थाओं में पाठ्यक्रम कुछ भी हो, हम उस पाठ्यक्रम के इर्द–गिर्द रहकर गतिविधि आधारित कक्षा की संरचना करना चाहते हैं। एक ''जिंदा क्लास'' की रचना करना चाहते हैं। मुझे वह छात्राध्यापक अधिक पसंद आता है जो यह कहता है, अभी पाठ अधूरा है, गतिविधि में परिवर्तन करना पड़ेगा। अभी कुछ ही दिन हुए, मैं एक प्राथमिक विद्यालय में प्रथम परिचय के लिए छात्राध्यापकों को लेकर गई। मेरा प्रथम परिचय उस पुस्तक से हुआ, जो इस वर्ष बदल गई।... पुस्तकें देखकर मन में कई प्रश्न उभर कर आए... क्या इन पुस्तकों के निर्माण में बच्चों के भोले–भाले चेहरे देखे थे?... क्या उनके घर का स्तर देखा था,... क्या चाहते हैं... आदि... आदि। क्योंकि मेरा अनुभव है, बालक तो एक निश्चित समय तक ही विद्यालय में रहते हैं और पूरे वर्ष भी विद्यालय खुले नहीं रहते। फिर कभी कोई अध्यापक अवकाश पर, कभी किसी कारणवश विद्यालय बंद। मैंने तो अपना एक नया रास्ता अपना लिया।... मैंने ढेर सारे चार्ट्स बनवाने शुरू कर दिए। पाठ्यक्रम शिक्षक के लिए होता है, बच्चों के लिए नहीं। शिक्षक को परिश्रम करना है। बच्चे को गतिविधियों में जिज्ञासु मनोरंजन करना है... अब मेरे अतीत के अनुभव ''टीचिंग मशीन'' के जैसे मेरे छात्राध्यापकों पर प्रयोग की तरह से काम आ रहे हैं...। हमने पुस्तकों के ज्ञान को कुछ इस तरह से फैला दिया कि वे इस कक्षा–कक्ष को प्रयोगशाला का रूप दे सकें। अध्यापक के बिना भी छात्र चित्रों से बातें करें, उन्हें देखें, छुएं, उनकी रुचि विकसित हो। उसे यह ध्यान रखना है।

हमने कुछ कार्ड्स, खेल चार्ट्स, सेल्फ लर्निंग की सामग्री बनाई जिसमें अधिक से अधिक सीखने–सिखाने वाले का मन आनंददायी हो। कहने का तात्पर्य ये है कि छात्रों को क्या चाहिए, इस पर सोचने का समय हमें निकालना होगा। उनके मन की सुनें तो उन्हें ऐसा धरातल चाहिए जिसमें वे स्वतंत्र होकर जो भी करें, उनमें पढ़ने–समझने की आदत का विकास हो। आज पाठ्यपुस्तकों के मूल्यांकन की गंभीर आवश्यकता है।

मैं तो प्राथमिक स्तर पर अपने अनुभवों को देखते हुए सोचती हूं कि बच्चों को समझने के लिए साधारण दृष्टिकोण ही ठीक है। हमें बच्चों को अपने उत्तरों... सिद्धांतों से नहीं ढकना चाहिए। बालक जब हमारे पास आता है उसका ''मन'' स्वतंत्र नहीं होता, बल्कि वह अपने परिवार और पास–पड़ोस के मन का एक भाग होता है। अतः पाठ्यक्रम को उसके वातावरण और उसके पूर्व के अनुभव से जोड़ते हुए ही उसकी समझ को विकसित करने में सहायता मिलती है। यहां मैं केवल प्राथमिक स्कूलों के अनुभव पर बात कर रही हूं। क्योंकि स्कूल भावनाओं का एक ऐसा स्थान है, जहां बच्चे सहयोगी बनने और सहयोग करने में सहायक हैं। हमें बालक के भविष्य की नहीं बल्कि पहले उसके वर्तमान के बारे में सोचना आवश्यक है।

सरन काला : विद्या भवन नर्सरी स्कूल में पढ़ाया है, विद्या भवन जूनियर स्कूल की इंचार्ज रही हैं। वर्तमान में ऐश्वर्या बीएसटीसी में प्राध्यापिका हैं।

■ बातचीत

जीवन की शिक्षा का दर्शन कराती है – नई तालीम

नई तालीम समिति, सेवाग्राम के अध्यक्ष सुगन बरंठ से सिद्धार्थ जैन की बातचीत

बुनियादी शिक्षा के नाम से ख्यात 'नई तालीम' के स्कूल देश के विभिन्न राज्यों में आज भी संचालित हो रहे हैं। इन स्कूलों में बालवाड़ी से आठवीं तक के बच्चों को उद्योग के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती है और कुछ राज्यों में 12वीं तक। वर्तमान में करीब पांच सौ विद्यालय कार्यरत हैं, जो 'नई तालीम' की अवधारणा पर संचालित हो रहे हैं। इन विद्यालयों में पच्चीस हजार से अधिक बच्चे अध्ययनरत हैं। नई तालीम समिति इन स्कूलों से संपर्क कर एक भ्रात मंडल (नेटवर्क) खड़ा कर रही है, जिससे आने वाले समय में इन स्कूलों में नई तालीम शिक्षण पद्धति के बुनियादी सिद्धांतों को स्थानीय परिवेश पर आधारित पाठ्यक्रम में लागू किया जा सकेगा।

नई तालीम समिति, सेवाग्राम के अध्यक्ष सुगन बरंठ पिछले दिनों (30 मार्च, 13) भोपाल दौरे पर आए थे। अजीम प्रेमजी फाउंडेशन, भोपाल के द्वारा उनके साथ नई तालीम के वर्तमान संदर्भों, प्रासंगिकता और नई तालीम शिक्षण पद्धति के बारे में बातचीत की गई तथा नई तालीम के कामों को समझने का प्रयास किया गया।

आप नई तालीम समिति, सेवाग्राम के पिछले कई वर्षों से अध्यक्ष हैं। नई तालीम शिक्षा से क्या आशय है? आज के संदर्भों में इसकी क्या प्रासंगिकता है?

महात्मा गांधी ने देश की परिस्थितियों के मद्देनजर बच्चों की शिक्षा के लिए एक पद्धति को नई तालीम के रूप में सामने रखा था। नई तालीम को गांधीजी ने देश व दुनिया के लिए अपनी अंतिम व सर्वश्रेष्ठ देन कहा था। यह केवल शिक्षण पद्धति ही नहीं है, बल्कि एक समग्र जीवन शैली की विचारधारा को प्रस्तुत करती है। इससे अहिंसक समाज रचना के अच्छे नागरिक तैयार हो सकते हैं। इसमें 'काम की प्रतिष्ठा' के मूल्य को बहुत महत्त्व दिया गया है। जब बच्चे उद्योग की शिक्षा ग्रहण करते हैं, तो उनमें पढ़ाई के आनंद के साथ–साथ श्रम के प्रति निष्ठा भी गहरी होती जाती है। वहीं सहयोग, सद्भाव, संस्कार, समता आदि जैसे मूल्य सहज ही बच्चे में प्रस्थापित होते जाते हैं। नई तालीम को 75 साल पूर्ण हो रहे हैं। इसका उद्देश्य समतामूलक, न्यायपूर्ण, अहिंसक समाज की रचना करना है तथा शैक्षणिक दृष्टि से बच्चों का सर्वोत्तम विकास करना है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की स्थिति ऐसी है कि इससे न तो रोजगार उपलब्ध हो पा रहा है और न कोई कारगर मूल्य स्थापित हो पा रहे हैं। करोड़ों की संख्या में बेरोजगार युवा काम की तलाश में भटक

रहे हैं। बड़ी संख्या में ग्रामीण इलाके के बच्चे आठवीं के आगे की पढ़ाई नहीं कर पा रहे हैं। शिक्षा के व्यवसायीकरण की वजह से गरीब–वंचित वर्ग के बच्चे शिक्षा की पहुंच से दूर होते जा रहे हैं। इन्हीं परिस्थितियों के मद्देनजर देश में नई तालीम की प्रासंगिकता महसूस होती है। नई तालीम शिक्षण पद्धति से देश के युवाओं को स्वावलंबी बनाया जा सकता है।

''नई तालीम जीवन द्वारा जीवन के लिए जीवन का शिक्षण है'' ये वाक्य बहुत प्रचलित है, नई तालीम शिक्षा के क्षेत्र में। इस पर थोड़ा खुलकर प्रकाश डालेंगे तथा इस दर्शन का खुलासा करेंगे?

शिक्षा का मतलब ही यही है कि जो सीखा है, उसका जीवन संबंधी कामों में उपयोग करना। आप देखेंगे कि आज की शिक्षा प्रणाली केवल जानकारी प्रधान वाली है। जबकि नई तालीम में ज्ञान और कर्म दोनों की प्रधानता है। वैसे देखा जाए, तो दुनिया में ज्ञान असीमित या अनंत है। लेकिन जीवन के लिए 'अनंत ज्ञान' की आवश्यकता नहीं होती। क्या आपको लगता है कि 'जीवनोपयोगी ज्ञान' कभी किसी स्कूल में हासिल किया जा सकता है? ये संभव ही नहीं है। जीवन के लिए उपयोगी ज्ञान तो जीवन से ही हासिल हो सकता है। छात्रों में ऐसा ज्ञान उपलब्ध कराने की शक्ति पैदा करना स्कूलों का काम होना चाहिए। इस तरह ज्ञान युक्त कर्म को प्रधानता देकर समस्त शिक्षा का विस्तार करने वाली पद्धति ही नई तालीम शिक्षण पद्धति है। जीवनोपयोगी और समाजोपयोगी काम ही नई तालीम शिक्षण पद्धति के प्रमुख साधन हैं। शब्द, अक्षर या अंक शिक्षा के मुख्य वाहन नहीं है, बल्कि व्यवस्थित तरीके से जीवन जीने के लिए किए जाने वाला कर्म ही शिक्षा का मुख्य वाहन हो सकता है। इसीलिए गांधीजी ने कहा कि बच्चे की शिक्षा का आरंभ अंक, अक्षर या लिपि से न करके उसकी शिक्षा का प्रारंभ किसी जीवनोपयोगी उद्योग की क्रियाओं से किया जाए। इस कार्य में गणित, विज्ञान, भाषा और विचार को अनुभवों के आदान–प्रदान करने के साधन के रूप में सहज ढंग से सीखा जा सकता है।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या आधार पत्र 2005 में 'काम और शिक्षा' फोकस समूह में बुनियादी शिक्षा की जमकर पैरवी की है। इसे आप कैसे देखते हैं?

देखिए! गांधीजी द्वारा प्रणीत नई तालीम योजना जीवन की शिक्षा का दर्शन कराती है। 1970 के पूर्व देश में डेढ़ लाख से अधिक शिक्षक थे, जो नई तालीम शिक्षण पद्धति में दक्ष थे। लेकिन इसके बाद सरकार के ऐजेंडे से बुनियादी शिक्षा, याने नई तालीम को धीरे–धीरे हटा दिया गया। लेकिन इस विचार को मानने वाले संगठनों और समाज के विचार वाली संस्थाओं ने बुनियादी शिक्षा के स्कूलों को चलाए रखा तथा इसमें तात्कालिक परिस्थितियों के अनुरूप कुछ परिवर्तन भी किए। इस शिक्षण पद्धति से पढ़कर निकले लगभग सभी विद्यार्थियों ने अच्छे मुकाम हासिल किए तथा एक सक्षम नागरिक के रूप में अपने आपको स्थापित किया। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या में ऐसे ही विचार को मानने वाले व्यक्तियों और संगठनों के प्रतिनिधियों ने अपने विचारों को सामने रखा तथा जोरदार तरीके से वर्तमान शिक्षण पद्धति में बदलाव की पैरवी की है। लेकिन सरकारों की इच्छा शक्ति न होने की वजह से बुनियादी शिक्षा का विस्तार नहीं हो पाया। 2005 के राष्ट्रीय पाठ्यचर्या को भी कागज पर ही बनाए रखा है। वह भी गिने–चुने स्कूलों में इस संदर्भ में काम किया है। राज्यों ने भी पाठ्यचर्या के अनुरूप बहुत अधिक काम नहीं किया है। इन्हीं सब वजहों से वर्तमान शिक्षा नीति के परिणाम भी हमारे सामने हैं। इससे छात्रों में न तो ज्ञान का विस्तार हो पा रहा है और न ही उन्हें काम मिल पा रहा है। जानकारी आधारित शिक्षा ग्रहण करने के बाद छात्र व्यावसायिक शिक्षा की

ओर प्रवृत्त हो रहे हैं, जिसमें उन्हें स्वावलंबन का रास्ता दिखता है। पर वास्तव में वहां भी उनकी सृजनशीलता का बहुत शोषण होता है। मुझे लगता है कि आने वाले समय में काम और शिक्षा के संदर्भों के ईदगिर्द ही ऐसी शिक्षण पद्धति को लागू करना पड़ेगा, भले ही उसे और कोई नया नाम दे दिया जाएगा।

हम बुनियादी शिक्षा की इस पैरवी को काम की संभावनाओं को पुनर्स्थापित करने के मौके के रूप में देखते हैं। देशभर में यदि सही तरीके से 'एडवोकेसी' की जाए तो बड़ी संख्या में शिक्षण संस्थाएं आकृष्ट होकर, इस शिक्षण पद्धति को अपनाने की दिशा में आगे बढ़ सकती हैं।

बुनियादी शिक्षा के कामों के प्रसार के लिए क्या रोड मेप होगा? इस काम को कैसे आगे ले जा पाएंगे?

नई तालीम के विस्तार एवं प्रचार–प्रसार के काम में प्रमुख रूप से शिक्षण–प्रशिक्षण का कार्यक्रम हमारे समाने है। वहीं नई तालीम के पाठ्यक्रम को तैयार करना भी एक जरूरी काम मानते हैं। देशभर में फिलहाल पांच सौ से अधिक विद्यालय हैं, जो नई तालीम की अवधारणा या उसके समकक्ष संचालित हो रहे हैं। इन स्कूलों में लगभग 25 हजार से अधिक विद्यार्थी अध्ययनरत हैं। इन तमाम स्कूलों से हम संपर्क कर रहे हैं। समिति ने तय किया है कि नई तालीम के विचार और शिक्षण पद्धति के पक्ष में वातावरण बनाने हेतु राज्य स्तर पर सम्मेलन आयोजित किए जाएंगे। इसके साथ ही देशभर में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों, संस्थाओं और शिक्षाविदों को भी जोड़ने का काम शुरू किया है, जिसमें–

- 1970 से पहले बुनियादी शिक्षा में काम कर रहे व्यक्ति और संस्थाएं।
- जो लोग नई तालीम के बारे में जानते हैं और अपने स्तर पर कुछ काम कर रहे हैं।
- वैकल्पिक शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे व्यक्तियों/संस्थाओं या कुछ अलग हटकर काम कर रहे व्यक्तियों/संस्थाओं से संपर्क।
- ऐसे लोग जो आज की शिक्षा व्यवस्था से असंतुष्ट हैं, पर कोई सही मार्ग नहीं ढूंढ पा रहे।
- नीति नियंताओं, शिक्षाविद्ों, डाईट, एनसीईआरटी, एनसीआरआई आदि से जुड़े शिक्षकों, संदर्भ व्यक्तियों।

नई तालीम की पुनर्स्थापना के लिए चार प्रस्तावों पर काम किया जा रहा है। जिसमें मोटेतौर पर हैं–

- नई तालीम बोर्ड/विश्वविद्यालय का गठन। (करुणाकरन एवं सुदर्शन अयंगर, गुजरात विद्यापीठ सहित अन्य 8 सदस्य)
- नई तालीम पाठ्यक्रम एवं पेडोगॉजी, बालवाड़ी से 8वीं तक (नायला, सुजीत सिन्हा सहित अन्य 30 सदस्य)
- डाक्यूमेंटेशन एवं रिकार्ड (आनंद कुमार सहित 10 सदस्य)
- आज की शिक्षा व्यवस्था से संघर्ष (अनिल सद्गोपाल, पी. व्ही. राजगोपाल, सुगन बरंठ सहित अन्य 10 सदस्य)

पिछले नवंबर में नई तालीम के 75 साल पूर्ण होने पर सेवाग्राम में दो दिवसीय सम्मेलन का आयोजन किया गया था। देशभर के 350 व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने सम्मिलित होकर सम्मेलन में पारित इस प्रस्ताव का समर्थन किया और इस काम को पुनर्स्थापित करने का संकल्प लिया है। इस सम्मेलन की संपूर्ण कार्रवाई की विडियोग्राफी भी कराई गई है। सम्मेलन की इस कार्रवाई को लिपिबद्ध कर प्रकाशित करने की योजना है। नई तालीम समिति को मास्टर ट्रेनर ट्रेनिंग सेंटर के रूप में स्थापित करने की भी कोशिश की जा रही है।

सिद्धार्थ कुमार जैन : अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन भोपाल (म.प्र.) में कार्यरत हैं।

जीवन में गणित

स्मृति कुलश्रेष्ठ

इस आलेख में लेखिका ने स्कूली शिक्षा में गणित को एक विषय के रूप में पढ़ने–पढ़ाने के संदर्भ में मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण आयामों के साथ उसको जोड़कर, उसके महत्त्व को सरल रूप से उल्लेखित किया है।

कुछ पलों के लिए कल्पना कीजिए कि गणित इस संसार से विलुप्त हो चुका है। देखिए इस गणितहीन संसार के सभी द्रव्य किस तरह अनुशासनहीन हो जाते हैं। धरती को अंदाजा नहीं कि कितने समय में खुद की धुरी पर घूमना है और सूर्य के परिक्रमण में कितना वक्त लगेगा। पेड़–पौधों, फूल–पत्तों से उनका विन्यास–समरूपता छिन गई है। रात और दिन का आना–जाना इंतजार का सबब हो चुका है व मौसम बदलना भूल चुके हैं। चांद घटने–बढ़ने की अदा खो चुका है। बच्चों के संसार से न जाने कितने खेल गायब हो चुके हैं, यहां तक कि भोजन की थाली में भी नमक–मसालों का ताल–मेल नहीं।

यह सब एक दुःस्वप्न ही रहे तो ठीक है, अन्यथा ये दुनिया कितनी बेतरतीब, असुन्दर, नीरस और बेस्वाद हो जाएगी, आप समझ ही गए होंगे। गणित हमारे जीवन से, पलों से इस तरह गुंथा हुआ है कि इसे अलग कर पाना असंभव है। देखा जाए तो समस्त संसार एक गणित ही है। हमारा उठना–बैठना, मिलना–जुलना, खाना–पीना, सभी व्यवहार एक गणित ही तो है। जब से दिन शुरू होता है, गणित साथ हो लेता है।

सुबह–सुबह जब घड़ी में अलार्म बजता है, सभी सदस्यों को उठना होता है... समय का संज्ञान घड़ी को पढ़ना एक गणित ही तो है। गृहणियां सुबह से सोचना शुरू करती हैं... बच्चों को स्कूल भेजना है... फिर पति को भी या अक्सर उन्हें भी काम से निकलना है... अब कितना समय शेष है और किस तरह बचे हुए समय का, तैयार होने के लिए प्रत्येक सदस्य के बीच वितरण करना है, एक गणित ही तो है। पानी की टंकी में कितना पानी उपलब्ध है? दिन भर के लिए पानी वितरण भी एक गणित ही तो है। सभी सदस्यों के लिए उचित मात्रा में नाश्ता बनाना और उसके स्वाद को ध्यान में रखते हुए, अनुपात में सभी सामग्रियों का इस्तेमाल एक गणित ही तो है। बनिए से सौदा लेना, सभी सदस्यों व बच्चों के खेलने, आराम और गृहकार्य के बीच उचित सारणी बनाना, अपनी आय का हिसाब रखते हुए, घर की आवश्यकताओं के अनुसार उसे विभाजित करना, इन सभी कार्यों में, सुबह से रात तक कितनी ही बार हम गणित के विभिन्न स्वरूपों जैसे– अनुपात, घटाना–जोड़ना, समय और काम, समय–दूरी, परम्यूटेशन–कॉम्बिनेशन, प्रतिशत, बैंकिंग, ब्याज आदि का व्यवहारिक प्रयोग करते हैं।

गृह–सज्जा की बात हो, तब भी गणित को अनदेखा नहीं किया जा सकता। अलमारियों में करीने से कागज बिछाना हो, या फर्श पर कार्पेट बिछाना हो, सेंटर या डायनिंग टेबिल के कवर, बेड–कवर शीट, तकियों–कुशनों के कवर, वॉल–पेपर और न

जाने कितनी चीजों को सजाने के लिए क्षेत्रफल की जानकारी आवश्यक है। वस्तुओं को किस क्रम में रखना है, जिससे वे सुविधाजनक तो रहें ही, साथ ही आकर्षक भी दिखें, इसके लिए भी समानता, आकार और नाप के मूल–भूत ज्ञान की आवश्यकता होती है, जो कि निश्चित रूप से गणित का ही एक हिस्सा है।

एक चित्रकार, जब अपनी कल्पना से प्रकृति को कैनवास पर उकेरता है, तो अनुपात–समानुपात का सही ज्ञान ही उसकी रचना को वास्तविक आभास दे पाता है। किसी नदी या विस्तृत क्षेत्रफल के दूसरी ओर की सभी छटाएं आकार में छोटी और इस ओर के नजारे बड़े होते हैं, ये हमें नजदीकी व दूरी का अहसास कराते हैं। घर के अनुपात में बने पेड़, उन पेड़ों के साथ सही अनुपात में बने पत्ते, फूल, टहनियां या तस्वीर से जुड़ी हुई कोई चीज, जब चित्रकार द्वारा उसके सही गणितीय ज्ञान के अनुसार रचित होती है, तो चित्र स्वतः ही सजीव हो उठता है।

अतः हम देख पाते हैं कि सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, चित्रकला, मूर्तिकला या किसी भी प्रकार की कला से जुड़े छात्रों को गणित व ज्यामितीय का प्रारंभिक ज्ञान दिया जाना जरूरी होता है। इस्तेमाल की तमाम चीजों जैसे– साड़ियों, चादरों, परदों, टाईल्स आदि में ज्यामितीय रचनाएं नित्यरोज देखने को मिलती हैं। बच्चों को सुंदर लेखनी सिखाने में भी गणित का उपयोग है। यही कारण है कि छोटी कक्षा में छात्रों की हिंदी, अंग्रेजी व गणित की कॉपियों की लाइनें व खाने बराबर तथा उस अनुसार बने होते हैं कि वे निर्धारित जगह में अक्षर विशेष, अंक, शब्द या वाक्यों को उनके आकार के अनुरूप सही अनुपात में लिखना सीख सकें। उदाहरण के लिए a के अनुपात में b का आकार क्या होना चाहिए? बच्चों में व्यावहारिक समानुपात का ज्ञान कराता है। जब वे अभ्यस्त हो जाते हैं, तो स्वयं ही स्थान की उपलब्धता के आधार पर अपनी लेखनी का समायोजन कर लेते हैं।

गणित का विस्तार सिर्फ आपके या किसी के कार्य क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, बल्कि आपकी रुचियों, खेलों तथा मनोरंजन तक इसका दखल है। बच्चों के तमाम खेल प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में गणित से जुड़े हैं। सांप–सीढ़ी, लूडो, ताश, कैरम, क्रिकेट. .. बल्कि कहा जाए तो सभी खेलों में गणित का या तो सीधा प्रयोग होता है अन्यथा वह अनुभूतियों में इस प्रकार समाया है कि बिना गणना के आप उसका अनुप्रयोग कर पाते हैं।

उदाहरण के लिए गेंद प्रक्षेप्य मार्ग पर कितनी गति के साथ आ रही है तथा कितने बल से उसमें टक्कर देनी है, इसका ज्ञान आपकी संवेदनाओं को अभ्यास के साथ आ जाता है। इसी प्रकार कैरम या ऐसे कई खेलों को गति, दिशा और टक्कर तीनों के सही समायोजन के प्रयोग की तरह समझा जा सकता है। ये गणित व भौतिकी के अप्रत्यक्ष रूप से व्यवहारिक प्रयोग हैं। सांप–सीढ़ी, लूडो जैसे डाइस वाले खेल जहां छोटे बच्चों को गणना सिखाने का साधन हो सकते हैं, वहीं ये संभावना का भी एक उदाहरण है। उलट–फेर संयोजन का प्रयोग भी बहुत आम है। महिलाएं तो अक्सर अपनी साज–सज्जा व वस्त्रों के चयन में इसका अधिकतर प्रयोग करती हैं, तीन या चार चीजों को अलग–अलग संयोजन के साथ हर बार अलग–अलग दिखाने की कला तो कोई महिलाओं से सीखे। उनकी यह अभिरुचि सिर्फ फैशन तक सीमित नहीं है। रसोई में उपलब्ध सीमित सामान का अलग–अलग प्रकार से संयोजन कर उनके स्वाद पैदा करना भी सीखना है तो ये महिलाएं ही हैं। खैर, बात यहां गणित की चल रही है तो विषय पर आते हैं, ताश का खेल भी तो इसका एक उदाहरण है। इसके

द्वारा यह अंदाजा भी आसान होता है कि विपक्ष के खिलाड़ी के पास कौन–कौन से पत्ते संभव हैं। अतः हम समझ सकते हैं कि गणित मात्र गणना नहीं सिखाता बल्कि आपकी तर्क व अनुमान शक्ति को भी दुरुस्त करता है।

प्रकृति को भी देखें तो लगता है मानो वह भी गणित को जानती है। कभी पौधे के पनपने की घटना को गौर से देखें तो जान पड़ता है कि तने का विकास, पत्तियों की उत्पत्ति क्रमशः एक निश्चित समयांतराल के बाद– एक निश्चित क्रम में, एक गणितीय योजना के अनुसार ही हो रही है। अंतरिक्ष और धरती में मौजूद सभी पिंड निर्देशांकों के ही अनुसार स्थापित हैं या गति कर रहे हैं। क्या खूब है! किसी अणु के परमाणुओं के निर्देशांक बदल जाने से ही उसके रासायनिक व भौतिक गुणों में बड़ा परिवर्तन आ जाता है। कार्बन के प्रारूप कोयला, ग्रेफाइट और हीरा, इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है। मात्र ज्यामितीय व गणितीय योजना बदल जाने से ही एक ही तत्व के अलग–अलग रूप और गुण हम पाते हैं। यानि ये प्रकृति भी गणित के नियमों पर टिकी हुई है।

संसार की उत्पत्ति में अगर गणित का महत्त्व है तो वह मानव सभ्यता के विकास में भी कम नहीं है। पुरानी सभ्यताओं के अवलोकन से मालूम होता है कि किस प्रकार गणित का अपने जीवन में बेहतर प्रयोग करने के साथ–साथ ही इन सभ्यताओं का विकास हुआ। मिश्र के अद्‌भुत पिरामिड हों, हड़प्पा–मोहन–जोदड़ो या सिंधु घाटी सभ्यता का सुविकसित व सुनियोजित उच्च स्तरीय समाज हो, तो पता चलता है कि गणित की माप विद्या और व्यावहारिक गणित के अद्‌भुत विज्ञान को सीखने पर ही मानव विकास के पथ पर अग्रसित हुआ। चांद तो मनुष्य की कहानियों और कवि की कल्पनाओं में ही रह जाता, यदि गणित का सेतु न होता। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि कोई भी कला, विज्ञान अथवा सभ्यता का विकास गणित के बिना असंभव था। संपूर्ण मानव–विकास व गणित का विकास आपस में समानुपाती घटनाएं हैं।

असंख्य उद्‌देश्य व आवश्यकताएं हैं तो अंसख्य गणितीय साधन व हल भी हैं। सभी का उल्लेख कर पाना चंद पन्नों में मुमकिन नहीं। गणित को मात्र एक ही विषय या गणना पर आधारित विज्ञान मानना, उसे कम आंकना है। मैं समझती हूं कि यह व्यक्तित्व के विकास की एक आवश्यक कड़ी है। अतः बचपन से ही बच्चों में गणित के प्रति रुचि पैदा करना अध्यापक व अभिभावकों का मूल उद्‌देश्य होना चाहिए। जिस प्रकार अपने विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अपने विचारों और भावों को सही दिशा देने के लिए उचित तर्क शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसका माध्यम गणित ही है ।

स्मृति कुलश्रेष्ठ : एमए अंग्रेजी में हैं और लिखने–पढ़ने में इनकी रुचि है।

भूल सुधार : पत्रिका के अंक 5 में 'कैसे करे लेखन कला का विकास' के लेखक जेनेंद्र कुमार का नाम गलती से जितेंद्र कुमार छप गया था और 'शिक्षण में कैसे आए वैज्ञानिक चिंतन' के लेखक का नाम जग मोहन कठैत की जगह गलती से जग मोहन चोपता छप गया था।

जीवन के लिए जीवन से गुजरना

मॉर्जरी सॉइक्स

इंसान और समाज दोनों की उन्नति के लिए गांधी जी ने स्वास्थ्य और शिक्षा को महत्त्वपूर्ण माना। इन्हें वे जमीनी स्तर पर स्वराज की कुंजी के रूप में देखते थे। अपने 75 वें जन्म दिवस पर उन्होंने कहा कि शिक्षा अजीवन चलने वाली चीज है जिसका उद्देश्य व्यक्ति के मानसिक क्षितिज का विस्तार करना होना चाहिए। 1945 में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने जब देशभर के शिक्षकों को शैक्षणिक विचारों पर चर्चा के दौरान गांधी जी ने उत्पादक हस्त कलाओं को पूरी गंभीरता से लेने को अनुरोध करते हुए कहा था कि ऐसे नियोजित और सरकारी काम में हाथ बटाना अपने आप में एक मुकम्मल शिक्षा है, जिसमें प्रत्येक सदस्य सभी के श्रम से लाभावित्त होता है। गांधी ने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के संदर्भ में कहा, गांवों की रोजमर्रा की जिन्दगी के लिए आवश्यक विविध फसलों व खाद्यान्नों का उत्पादन बेहतर पोषक व खाद्य सुरक्षा दे सकता है। जबकि पूंजी बाजार पर केन्द्रित बड़े पैमाने के एक फसली उत्पादन में ऐसा संभव नहीं है। लेकिन दुर्भाग्य की बात रही कि जो नई दृष्टि गांधी जी प्रस्तुत कर रहे थे उसको हम समझ नहीं पाए और एक सामाजिक क्रांति की संभावनाओं वाली नई तालीम को हकीकत की जमीन पर नही उतार पाए। इतना ही नहीं जब बेसिक स्कूल अपने अस्तित को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे थे, उन्हें हमारे ध्यान और रखरखाव की जरूरत थी, हमने उन पर इतना ध्यान नहीं दिया।

अब आगे...

यदि नई तालीम को इंसान के समूचे विकास और उसके समग्र जीवनकाल को संबोधित करना है तो किसी भी मानवीय सरोकार को उसके दायरे से बाहर नहीं रखा जा सकता। उसमें घर पर रहने वाली मां और शिशु तथा समाज के सभी प्रौढ़ सदस्यों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियों की शिक्षा को शामिल करना अनिवार्य है।

इस रोशनी में सेवाग्राम में भी नई तालीम का सवाल नए सिरे से उठ खड़ा हुआ। गांव के स्कूल में काम कर रही शांता नरूलकर जनवरी 1945 में हुए सम्मेलन के फौरन बाद गांधीजी के मार्गदर्शन में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करने के लिए तैयार हो गईं। गांधीजी तुरंत इसके लिए तैयार हो गए और उन्होंने इस विषय में अपने सिद्धांतों का एक स्पष्ट खाका उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने कहा कि कार्यकर्ता को खुद गांव में रहना होगा, उसे बाहर से गांव में काम के लिए आने की जरूरत नहीं है। उसे यह याद रखना होगा कि नई तालीम का आशय शिक्षा से है न कि परोपकार से। लिहाजा, उसे गांववालों के लिए काम नहीं करना

होगा बल्कि उन्हें इस बारे में मदद देनी होगी कि वे खुद अपनी जरूरतों को पहचान सकें और उसे यह दिखाना होगा कि वे अपने प्रयासों से उन्हें कैसे पूरा कर सकते हैं। उसे इस बात का भी खयाल रखना होगा कि नई तालीम पूंजी पर आधारित नहीं है। इसे शुरुआत से ही स्वावलंबन के सिद्धांत पर नियोजित करना होगा और बाहर से कोई आर्थिक सहायता नहीं दी जाएगी। इस प्रयोग में शांता केवल एक ही उपहार दे सकती थीं, खुद अपने आप को। गांधीजी ने कहा था, उन्हें वे सारी सेवाएं दो जिनकी उन्हें जरूरत है। बीमारी में सेवा–सुश्रू

षा करो या कोई और मदद दो लेकिन उन्हें कभी भी पैसे मत देना। प्रौढ़ शिक्षा में पैसे की कोई जरूरत नहीं होती।

राजनीतिक उथल–पुथल के पिछले वर्षों में गांव के बाहर स्थित गांधीजी के आश्रम का मूल प्रभाव क्षीण पड़ने लगा था। गांधीजी की ही पहल पर बनाई गई ग्राम पंचायत को तत्कालीन सरकार के विरोधस्वरूप 1942 में भंग कर दिया गया था और कानून व्यवस्था के लिए कोई इंतजाम नहीं बचा था। जमींदार सिर्फ लगान वसूल करते थे उन्हें गांव के कल्याण से जुड़े किसी भी काम से कोई सरोकार नहीं था। कभी–कभी विवादों को निपटारे के लिए आश्रम में भी लाया जाता वरना ये लंबे खिंचते चले जाते और निजी संबंधों में जहर घोलते रहते थे।

सामुदायिक भावना और उत्साह के अभाव का सीधा अर्थ यह था कि गांवों की मदद करने के लिए कुछ संस्थानों द्वारा किए जा रहे रचनात्मक काम आम जीवन में बुने हुए नहीं थे बल्कि महज चंद लोगों को लाभ पहुंचा रहे थे। आश्रम में गांधीजी द्वारा शुरू किया गया एक छोटा सा दवाखाना चलता था। सड़क साफ करने के लिए एक भंगी को भी रखा गया था। चरखा संघ ने कुछ गांव वालों को वेतनभोगी श्रमिक के तौर पर रखा हुआ था लेकिन वह गांव में खादी से जुड़ा कोई काम खुद नहीं करता था। गजानन नायक ने खजूर–गुड़ का जो उद्योग शुरू किया था उसका संचालन अब गांव वालों की बजाय वर्धा ग्रामोद्योग एसोसिएशन के हाथ में था।

गांव का स्कूल वयस्क शिक्षा का केंद्र हो सकता है ओर होना चाहिए। अपनी तमाम खामियों के बावजूद शांता नरूलकर जिस स्कूल में काम कर रही थीं वही कार्यकर्ताओं और ग्रामीणों के बीच सबसे घनिष्ठ और स्थायी संपर्क था। 1945 तक वहां पांचवें दर्जे की पढ़ाई शुरू हो चुकी थी। बच्चों को मध्याह्न भोजन दिया जाता था ताकि घर पर मिलने वाले अपर्याप्त भोजन की भरपाई हो सके। गांव के तकरीबन हर घर के बच्चे स्कूल में पढ़ रहे थे इसलिए शांता उनके माता–पिता और उनकी समस्याओं से बखूबी वाकिफ थीं।

फरवरी में संपर्क का एक और सूत्र जुड़ गया जब आश्रम ने गांव में बाल कल्याण केंद्र की स्थापना की जो दरअसल दवाखाने का ही विस्तार था। क्वेकर पंथ की अनुयायी अंग्रेज नर्स बारबरा हार्टलैंड ने इस केंद्र की कमान अपने हाथों में ली। गांधीजी के साथियों में उन्हें वसंती बहन के नाम से जाना जाता था। गांव के स्कूल के हेडमास्टर की पांचवें दर्जे तक पढ़ी पत्नी उनकी सहायक थी। बारबरा ने उन्हें रोजमर्रा की जरूरतों के हिसाब से आवश्यक कौशल का प्रशिक्षण दे दिया था। शुरुआत में इस केंद्र का खर्च आश्रम ने ही उठाया जो कि गांधीजी के इस सिद्धांत के विपरीत था कि प्रौढ़ शिक्षा के लिए पैसे की जरूरत नहीं होती। परंतु वास्तव में इस केंद्र की स्थापना शिक्षा के उद्देश्य से नहीं बल्कि एक सेवा केंद्र के रूप में की गई थी। बाद में इसे ग्रामीण महिलाओं की शिक्षा के लिए शांता की योजना में शामिल कर लिया गया और उसने विवेकवान अभिभावकत्व कार्यक्रम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

मार्च तक शांता भी गांव की हरिजन बस्ती में घर बना कर रहने लगी थीं। यहां उन्होंने हरेक घर की स्थिति, निर्माण, भोजन, रोजमर्रा जीवन के विवरण आदि का विस्तृत सर्वेक्षण करना शुरू कर दिया। कुएं काफी गंदे थे और कायदे से उनकी देखभाल नहीं की जाती थी। इसके बावजूद लोग इन्हीं कुओं का पानी पीते थे। घर आरामदेह नहीं थे और उनमें रहने वाले ज्यादा थे। राशन के अनाज की व्यवस्था तब थी लेकिन वितरण प्रणाली बहुत खस्ता थी जिससे लोगों को काफी दिक्कत आती और उनका वक्त बरबाद होता था। इन तमाम चीजों में सुधार की दरकार थी लेकिन ऐसा तभी हो सकता था जब लोग सामूहिक हित में सोचते और अपनी ताकत में आत्मविश्वास पैदा करते। जब शांता ने काम शुरू किया तो लोगों में ऐसे गुणों का अभाव था। पीने का साफ पानी सबसे जरूरी चीज थी। सेवाग्राम में पानी की दिक्कत नहीं थी। कई घरों में निजी कुएं थे। कुछ साल पहले आश्रम ने हरिजन बस्ती में गांव के इस्तेमाल के लिए एक कुआं खुदवाया था लेकिन चाहे वे सार्वजनिक हों या निजी, सभी कुएं रखरखाव के अभाव में गंदे पड़े हुए थे जहां मच्छर पनपते थे और संक्रमण फैलने का खतरा था। शांता पानी की समस्या के बारे में लोगों से बात करने लगीं। धीरे–धीरे पूरे गांव के सामने उन्होंने अपनी यह चिंता व्यक्त कर दी। आखिरकार, ये तय हुआ कि गांव के पैसे से ही सार्वजनिक कुएं की सफाई और मरम्मत की जाए। कुछ लोगों ने पैसे दिए तो कुछ ने श्रम दिया। आश्रम और स्थानीय जमींदार ने भी अपना योगदान दिया। गर्मी की शुरुआत तक कुआं साफ हो चुका था। लोगों ने खुद उसमें से निकली गाद को सूंघ कर जाना कि अब तक वे कितना गंदा पानी पी रहे थे। अब उन्हें किसी शिक्षा की जरूरत नहीं थी। उस साल गर्मियों के खत्म होने तक गांव के तकरीबन सभी कुओं को लोगों के परस्पर सहयोग से साफ कर दिया गया था। लोगों की दिलचस्पी बढ़ती गई और कुछ समय बाद उन्होंने गंदे पानी की निकासी के लिए नालियां भी बनवा दीं। अगली गर्मियों में एक बार फिर यही प्रक्रिया दुहराई गई। कुओं को दोबारा साफ किया गया और लोगों में परस्पर सहयोग की परंपरा विकसित होने लगी। जब लोग इस तरीके से काम करते हैं तो पैसे का सवाल नहीं उठता, जाति के बंधन टूटने लगते हैं और स्वाभाविक नेतृत्व सामने आने लगता है। जैसे–जैसे समय बीतता गया, शांता इन स्वाभाविक नेताओं को एकजुट करने और उन्हें साझा सरोकार के लिए मिल कर काम करने को प्रेरित करने में सफल रहीं। बेहतर आवास की दिशा में पहला कदम तब उठाया गया जब विभिन्न परिवार अपने मकानों की मरम्मत या पुनर्निर्माण करने लगे। शांता ने पाया कि जब लोग मकानों पर अपना पैसा और मेहनत खर्च कर चुके तो भी उनके मकानों की हालत में खास फर्क नहीं आया था। वह मकानों के निर्माण के समय लोगों को सलाह देती थीं कि वे मकान में एक खिड़की लगवा लें या मवेशियों के लिए अलग तबेला क्यों नहीं बनवा लेते? वह गांव वालों के आत्मसम्मान और स्वाभिमान पर भी चोट करतीं। वह पूछतीं, तुम अपनी चौखट जरा ऊंची क्यों नहीं बना लेते? तुम्हें अपने घर में घुसने के लिए सदा झुकने की जरूरत क्यों पड़ती है? वह पूछतीं, घर की औरतों को हर मौसम में बाहर मैदान ही क्यों जाना पड़ता है? उनके लिए अपनी जमीन के ही एक कोने में निजी शौचालय क्यों नहीं बनवाते? जहां आप सब्जियां उगाने की सोच रहे हैं वहां कितनी खुली जगह है – वहां तो दोनों काम किए जा सकते हैं। धीरे–धीरे ही सही कुछ सुधार तो हुए और आखिरकार एक सहकारी आवासीय सोसायटी का गठन भी कर लिया गया। इस सोसायटी ने गांव में जमीन का एक छोटा सा हिस्सा लेकर वहां श्रमिकों के परिवारों के लिए

मकान बनाने शुरू कर दिए। मकानों के संभावित व्यय और हर छोटी–बड़ी चीज के बारे में मकानदारों से पहले ही बात कर ली गई थी और सभी परिवारों ने इसके निर्माण में अपना हाथ बंटाया। लोगों ने एक–दूसरे के मकान के लिए अपनी बैलगाड़ियां भी निशुल्क दे दीं। इस तरह न सिर्फ लोगों को मकान बनाने का तरीका आया, बल्कि वे यह भी जान सके कि कम से कम खर्चे में मकान कैसे बनाया जा सकता है। इस सहकारी सोसायटी में जिन परिवारों के मकान थे, उन्हें सोसायटी के नियम मानने पड़ते थे। उन्होंने यहां बेहतर और स्वच्छ जीवन जीना सीख लिया था। घरों के भीतर शौचालय की समस्या पर हम पहले ही बात कर चुके हैं लेकिन इस दिशा में अभी और काम की जरूरत थी। गांव के लोग मल–मूत्र त्यागने के लिए प्रायः मेढ़ों और पगडंडियों के किनारे ही बैठ जाते थे, जिसके कारण गांव में प्रवेश का रास्ता सदा गंदा और बदबूदार रहता था। यही वजह थी कि आश्रम में एक भंगी को काम पर रखा गया था। भंगी अपने काम और हालात से काफी खिन्न रहता था। उसकी शिकायत थी कि उस पर काम का बोझ बहुत ज्यादा है। यह देख कर शांता ने उसे सलाह दी कि अगर वह गांव के मुहानों पर गड्ढा (ट्रेंच) शौचालय बना दे और लोग उनका इस्तेमाल करने लगें तो उसका काम काफी आसान हो जाएगा। बड़ी अनिच्छा से उसने शांता की बात मान ली। इसके बाद तो उसने और शांता ने मिल कर जल्दी ही गांव के मुहाने पर गड्ढे खोद कर शौचालय बना दिए। आड़ के लिए उन्हें ताड़ के पत्तों से घेर दिया गया। एक सोखता गड्ढे में पांच शौचालय बनाए गए। ऐसे चार शौचालयों और उनमें बैठने के लिए इस्तेमाल किए गए ताड़ के तनों सहित कुल 12 रुपए का खर्चा आया। धीरे–धीरे लोग उनका इस्तेमाल करने लगे। शांता के निर्देशन में लोगों ने जाना कि सड़क किनारे की खरपतवार और सड़े–गले पत्तों से मल को ढंक कर किस तरह दुर्गंध को भी खत्म किया जा सकता है। अब सड़कें काफी साफ रहने लगी थीं परंतु भंगी उनका साथ छोड़ कर चला गया था। शांता को इस बात से काफी तसल्ली हुई क्योंकि यह काफी अपमानजनक बात थी कि कोई समुदाय किसी पर आश्रित रहे। आत्मसम्मान के लिए ये जरूरी है कि सभी लोग मिल–जुल कर मैले को ठिकाने लगाएं।

सार्वजनिक साफ–सफाई के काम में नालियों की समस्या और घरों से निकलने वाले गंदे पानी का निपटारा भी शामिल होना था। इस इलाके की मिट्टी कपास उगाने योग्य काली मिट्टी है जिसके कारण बरसात के मौसम में यहां जल निकासी मुश्किल हो जाती है और मलेरिया जैसे रोग आम हो जाते हैं। इसका समाधान यह था कि हर घर में एक सोख्ता गड्ढा हो। शांता ने इसके लिए स्थानीय नेताओं के समूह को बुलाकर यह बात समझाई और दिखाया कि कैसे एक सोख्ता गड्ढा सस्ते में आसानी से बनाया जा सकता है। इन नेताओं ने गांव के दूसरे नेताओं से बात की और अगले ही दिन करीब 50 परिवारों ने अपने घरों में सोख्ता गड्ढे खोद डाले। यह स्वच्छ जीवन का एक व्यावहारिक सबक था। कुओं की ही तरह इन गड्ढों को भी हर साल जांचा जाने लगा और जरूरत पड़ने पर दोबारा खोदा गया। इन तमाम प्रक्रियाओं में जो स्वाभाविक तौर पर नेता और प्रभावशाली लोग समुदाय में पैदा हुए उन्होंने धीरे–धीरे गांव में एक कार्यकारी समिति जैसी चीज विकसित कर ली। शांता उनके साथ समय बिताती थी और उनकी सामुदायिक आवश्यकताओं पर चर्चा करती थी। वह कहती, यदि तुम्हें कुछ चाहिए, तो तुम्हें चीजों को सही ढंग से निपटा कर उसे पाने की जिम्मेदारी अपने हाथ में लेनी होगी। मैं तुम्हारी मदद करूंगी, मैं तुम्हें सिखाऊंगी कि चीजों को कैसे किया जाए। जहां तक संभव होगा,

लेकिन पहल तो तुम्हें ही करनी होगी। मैं तब तक कुछ नहीं करूंगी जब तक तुम मुझे बुलाओगे नहीं और काम करना नहीं शुरू करोगे। इस कार्यकारी समिति ने पहला सबसे बड़ा काम जो अपने हाथ में लिया, वह राशन के अनाज का वितरण था। 12 गांव ऐसे थे जिन्हें एक गांव की एक ही दुकान से राशन लेना होता था और बरसात में एक गांव से दूसरे गांव तक जाने का रास्ता चलने लायक नहीं रह जाता था। लोगों को उस दुकान तक जाने के लिए पूरे दिन की दिहाड़ी छोड़नी पड़ती और यदि राशन कार्ड को लेकर कोई भूल–चूक हो गई, तो उन्हें खाली हाथ भी लौटना पड़ जाता था। इसके अलावा जिस गांव में वह दुकान थी वहां हैजा फैल गया। ऐसी संकट की घड़ी में सेवाग्राम ने एक बैठक बुलाई और उपभोक्ताओं के लिए सहकारी स्टोर बनाने का तय किया। लोगों से पैसे इकट्ठे किए गए, जितनी उनकी क्षमता थी, लेकिन कुल जमा पूंजी बहुत कम थी और पहली खेप खरीदने के लिए लोन लेने की जरूरत पड़ गई। यह दुकान 1945 में चरखा जयंती को खोली गई और कार्यकारी समिति ने इसके प्रबंधन का काम अपने हाथ में ले लिया। दो महीने तक दो लोगों को एक साथ काम करने के लिए इस दुकान पर बैठाया जाता। उनका काम शुरुआती लोन को तुरंत लौटाने के बाद बहीखाता बनाना, कार्ड का हिसाब रखना, अनाज की खरीद और वितरण करना था। ये सारे काम स्वैच्छिक और अवैतनिक थे। शुरुआती छह महीने के बाद हिसाब में 60 रुपए का नुकसान दिखाया गया जिसे कार्यकारी समिति के दस सदस्यों ने अपनी–अपनी जेब से भरा। इसके बाद से यह दुकान फायदे में आ गई, जबकि नियम के मुताबिक यह गांव के कल्याण के लिए बनाई गई थी। इसे जो भी फायदा हुआ, वह इसके शेयरधारकों में नहीं बांटा गया। इस पहले सहकारी उद्यम की सफलता ने अन्य सहकारी उद्यमों के विकास के लिए बाद में मानक स्थापित किए। इन्हीं में से एक था सहकारी अनाज बैंक, जिसके मुनाफे को किसानों के फायदे के लिए इस्तेमाल किया गया। इसका मनोवैज्ञानिक असर बहुत ज्यादा हुआ और गांव वालों को यह महसूस हुआ कि वे गरीब और असहाय नहीं, बल्कि समृद्ध और स्वतंत्र हैं। इससे उनके भीतर स्वावलंबन और आत्मसम्मान बढ़ा।

भोजन और पानी, आवास, स्वच्छता आदि सभी प्राथमिक आवश्यकताएं इसी तरीके से प्रौढ़ शिक्षा का एक माध्यम बन गई। अब जरूरत थी कपड़ों की, और शांता ने काफी पहले इस बारे में कुछ काम किया था। गांव में प्राथमिक स्कूलों के माध्यम से कताई–बुनाई को लाया जा चुका था। चरखा संघ की मदद से अब गांव में तीन हथकरघे लगाए गए और गांव के लड़के उन पर अप्रैंटिस की तरह काम करने लगे। पहले साल में 1750 वर्ग गज कपड़ा बनाया गया और बेचा गया। बाद में हथकरघों और बुनकरों की संख्या बढ़ती गई तथा दूसरे किस्म के ग्रामोद्योग भी प्रौढ़ शिक्षा के केन्द्रों के रूप में विकसित किए जाने लगे। गांधीजी ने प्रौढ़ शिक्षा समिति से सितम्बर 1945 में कहा था, जीवन के लिए शिक्षा का अर्थ समूचे जीवन काल के दौरान शिक्षा नहीं है, बल्कि जीवन मात्र के लिए दी जाने वाली शिक्षा है। प्रौढ़ शिक्षा दरअसल जीने की कला का शिक्षण है। एक ऐसा व्यक्ति, जो जीने की कला पर महारत हासिल कर लेता है, वह पूर्ण मनुष्य बन जाता है। अपने सामने इसी दृष्टि को रख कर चलो और अपने काम को नई तालीम के आदर्श से प्रेरित होने दो। **क्रमश : ...**

साभार : नई तालीम की कहानी से।

मॉर्जरी सॉइक्स, (1988), नई तालीम की कहानी, **अनुवाद** : श्री प्रकाश, क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

नई तलीम पर विमर्श की
त्रैमासिक पत्रिका
''शिक्षा की बुनियाद''
इस विमर्श में आप भी भागीदार बनें।

पत्रिका की सदस्यता सहयोग राशि डाक/कुरियर खर्च सहित

व्यक्तिगत/संस्थागत	वार्षिक	द्वैवार्षिक	त्रैवार्षिक
	200/400	350/700	500/1000

पत्रिका की सहयोग राशि डी. डी./ चेक/एम.ओ. द्वारा 'विद्या भवन सोसायटी', उदयपुर (राज.) के नाम से भेजी जा सकती है। यह राशि सीधे 'विद्या भवन सोसायटी' के बैंक एकाउंट नं. 694301000027, ICICI बैंक ब्रांच विद्या भवन सोसायटी, फतेहपुरा, उदयपुर (ब्रांच कोड IFSC ICIC0006943) में भी जमा की जा सकती है।

सम्पर्क एवं सदस्यता प्रारूप जिसे भरकर भेजा जाना हैं

– निशांत कुमावत, विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केन्द्र,
डॉ. मोहन सिंह मेहता मार्ग फतेहपुरा,
उदयपुर– 313004 (राज.), email : vbs.skb@gmail.com
फोन नं. 0294–2451497, मो. न., 09414358108, 09950912525

सदस्यता का प्रारूप जो भर कर भेजना है

नाम .....पता.....

.....शहर.....राज्य.....

.....पिन.....फोन. निवास स्थान/ऑफिस .....

मोबाईल नम्बर .....ईमेल.....है।

पत्रिका की सहयोग राशि एम.ओ./डी.डी./चेक से। सीधे विद्या भवन सोसायटी के बैंक एकाउंट में दिनांक ..... को जमा करा दी गई है। कृपया पत्रिका मेरे/संस्था के पते पर भिजवाएं।

भवदीय

नाम ——————

२ अक्टूबर, २०१३ को गांधी जयंती के अवसर पर
विद्या भवन गांधी शिक्षा-अध्ययन संस्थान, रामगिरि, उदयपुर में आयोजित कार्यक्रम के छायाचित्र

स्कूल चलें हम

जिस वक्त आप स्कूल जाने की तैयारी कर रहे होते हैं
ठीक उसी वक्त
आपको ले जाने वाली बस का ड्राइवर भी
निकलने की तैयारी कर रहा होता है
आपको ठीक समय पर स्कूल पहुंचाने के वास्ते

ठीक उसी वक्त
आपके क्लास की टीचर भी
घर से जल्दी–जल्दी काम समेटने की तैयारी कर रही होती हैं
स्कूल जाने के लिए

ठीक उसी वक्त
स्कूल में होने वाली सुबह की प्रार्थना के शब्द
गाए जाने के पहले लय बांध रहे होते हैं

आप सुबह–सुबह गुजरें
साफ–सुथरी सड़क से
इसके लिए भी सफाई कामगार
अलसुबह निकल चुके होते हैं घर से

ठीक सुबह से ही
पढ़ाई जाने वाली किताबों के पन्ने भी
फड़फड़ा रहे होते हैं हवा से बातें करते
पढ़े जाने के पहले

ठीक उसी वक्त
स्कूल का आपका बस्ता
किताबों का बोझ ढोने के पहले
आपकी पीठ पर सवारी करने के लिए बेताब होता है

इस सबके साथ–साथ
अपनी नई पीढ़ी को तैयार होते देख
आपका देश भी सपनीली आंखों से
देखता है आपको जी भरकर।

– राग तेलंग

बीएसएनएल, मध्यप्रदेश में कार्यरत; भोपाल में रहते हैं;
कविताएं लिखने में संलग्न।

विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर की ओर से प्रकाशक व मुद्रक : रियाज़ ए. तहसीन, पता : विद्या भवन सोसायटी, डा. मोहन सिंह मेहता मार्ग, फतेहपुरा, उदयपुर, राजस्थान से प्रकाशित एवं संजय प्रिन्टर्स, 71, महिला मंडल स्कूल के पास, मुखर्जी चौक, उदयपुर, (राज.) से मुद्रित, सम्पादक : भाग चंद्र कुमावत।